UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180947

UNIVERSAL
LIBRARY

आलोचन[illegible]थ

ध्रुवस्वामिनी

सिद्धिनाथ तिवारी, एम० ए०

प्रकाशक

किताब महल : इलाहाबाद

सम्मति

सिद्धिनाथजी की 'ध्रुवस्वामिनी : एक आलोचनात्मक अध्ययन' की पांडुलिपि मैंने देखी थी। वह हिन्दी साहित्य के प्रभविष्णु अध्येता हैं, यह तो मैं जानता था, किंतु उनमें इतनी सुलझी हुई भावयित्री प्रतिभा भी है, इसका मुझे गुमान तक न था। उनके ग्रंथ की पांडुलिपि पढ़ लेने के बाद से मैं उत्सुकतापूर्वक उसके प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा था। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि वह शीघ्र ही मुद्रित होगी।

'प्रसाद' जी के नाटकों पर अब स्वतंत्र आलोचना-ग्रंथ उपलब्ध हैं। लेकिन साधारणत: देखने में यह आता है कि वे परीक्षार्थियों की सफलता को ही ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। सिद्धिनाथजी की पुस्तक की विशेषता इस बात में है कि वह छात्रोपयोगी होने के साथ ही साथ सुचिंतित तथा सुलिखित भी है।

पुस्तक में विद्यार्थियों की आवश्यकता एवं पहुँच का ख्याल रखा गया है पर वह 'क्रिब' (जिसे स्कूली भाषा में 'की' या 'कुंजी' कहते हैं) की नीची सतह पर नहीं आई है। हिंदी साहित्य में आज बहुत-सी ऐसी पुस्तकें आलोचनात्मक ग्रंथों का बाना पहने हुए दिखाई पड़ेंगी जो वस्तुत: 'क्रिब' के सिवा और कुछ नहीं। सुना है 'एटन' या 'हैरो' में अगर किसी छात्र के पास कोई 'क्रिब' मिल जाए तो उसे कठोर दंड दिया जाता है।

सिद्धिनाथजी से मुझे बहुत उम्मीदें हैं।

नलिन विलोचन शर्मा

कुछ अपनी भी

तेजी से दौड़ता हुआ मनुष्य यदि पीछे घूमकर देखने लगे तो प्रतिक्षण यह खटका रहता है कि उसे ठोकर न लग जाय। ये दोनों क्रियाऐं सहजसाध्य नहीं। प्रसादजी ने वर्तमान जीवन की दौड़ का मेल अतीत के धूमिल खँडहरों से करा दिया है— उन खँडहरों से जहाँ कि ईंटों के नीचे असंख्य सुवर्ण, मानिक बिखरे पड़े हैं। उनके ऊपर की गर्द को झाड़-पोंछकर इन्होंने वर्तमान के सामने रखा है--यह दिखाने के लिए कि देखो, इन्हें भूल गए थे तुम; ये आज भी तुम्हें राह दिखा सकते हैं !!

कलाकार भूतकाल को, सुनहले भूतकाल को, अपनी अंतर की आँखों की छोरों से इसलिए छूता है कि वह शक्ति भर भूतकाल की गहराई नापकर अपनी आकांक्षा का एक माप बना ले और उसको उठाकर जब वह भविष्य की ओर रख दे एवं उससे कुछ आगे अपनी कला-विन्दुओं की सीमा खींच ले तो विश्व में युग से होड़ लेती हुई उसकी एक अपनी अमर पीढ़ी दिखाई दे !—प्रसादजी का प्रयत्न नवीन पीढ़ी निर्माण करने का ही रहा है।

यही कारण है कि उनके नाटकों में निष्प्राण, मूक इतिहास भी बोल उठा है, उसे वाणी मिल गयी है। प्रसाद के अन्तर का अन्वेषक दूहों में घूमता हुआ गुनगुनाता रहता है—हृदय में कल्पित चित्रों की रीलें भी चलती रहती हैं। दर्शन, काव्य और इतिहास की ऐसी त्रिवेणी आपको शायद ही कहीं मिले—प्रयाग की त्रिवेणी में तो सरस्वती अन्तःसलिला हैं, यहाँ कवि की

सरस्वती साकार दिखाई पड़ती है। और तारीफ यह कि यह संगम एक विशेष स्थल पर ही नहीं है। तीनों धाराएँ साथ-साथ बहुत दूर तक बहती गयी हैं—बहुत दूर—वहाँ, जहाँ प्रसाद की नाटकीय सृजनात्मक प्रतिभा का शीर्ष-विन्दु मिलता है। और, वही विन्दु है 'ध्रुवस्वामिनी'।

प्रसाद-साहित्य का यह 'विन्दु' हमारे सामने अपनी लघुता का बाँध तोड़कर असीम सिंधु की गंभीरता लिए ही उपस्थित होता है। उसके मात्र दर्शन से हम विस्मित हो जाते हैं, अवगाहन की बात कौन कहे!

प्रस्तुत पुस्तक के कुछ परिच्छेद परीक्षायज्ञ की पूर्णाहुति के समय लिखे गये थे। उसके पुरोहित को वे अच्छे लगे और एक सस्मित आशीर्वचन के साथ 'और आगे बढ़ो' का उत्साह दिया गया। श्रद्धेय डाक्टर ब्रह्मचारीजी के वरदहस्त के नीचे इसके प्रायः सभी पृष्ठ लिखे गए हैं। उनकी आज्ञानुसार इसे अधिकाधिक विद्यार्थी-उपयोगी ही बनाने का प्रयत्न किया गया है। नाट्यकला सम्बन्धी प्रसादजी की मान्यताओं को ध्यान में रखकर ही आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न मैंने किया है। रससंचय करते समय यदि मधु भी बन पड़ा हो तो मुझे पता नहीं, पर मेरा प्रयत्न सदा पराग-चयन ही रहा है, इसे स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं।

प्रसादजी के नाटकों से मेरा अनुराग उसी समय से है जब मैं स्कूल में पढ़ता था। बिना अर्थ समझे हुए भी वे मुझे अच्छे लगते थे—लोगों के 'क्यों?' की तुष्टि नहीं करने पर भी काफी आत्मसंतोष रहता था। फिर उस समय से लेकर आजतक उनके नाटकों को न जाने मैंने कितनी बार पढ़ा है; और जब-जब पढ़ा तब-तब वे नवीन ही मालूम पड़े। 'ध्रुवस्वामिनी'

के अध्ययन के सिलसिले में प्रसाद-साहित्य से कुछ घरेलू सम्बन्ध-सा स्थापित हो गया और उसी का फल आपके हाथ में है।

यह पुस्तक समय से काफी संघर्ष करने के बाद आप-तक पहुँच पायी है। प्रकाशन के पूर्व इसने न जाने कितने ग्रीष्म देखे हैं—प्रकाशकों की नकारात्मक—लू से इसे कम झुलसना नहीं पड़ा है। कुछ दिनों तक तो भविष्य अंधकारपूर्ण ही था, पर 'किताब महल' के प्रधान श्रीनिवास अग्रवालजी) ने इसका प्रकाशन हाथ में लेकर काफी सहृदयता दिखलायी है, एतदर्थ वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। मित्रवर ललितमोहन तथा शारदाप्रसाद से लिखते समय काफी सहायता मिली है, उनका मैं आभारी हूँ। साथ ही, इसे पूज्य पिताजी की आकुल आकांक्षा का बोझ भी काफी अरसे तक ढोना पड़ा है।

कुछ साल पहले, पुस्तकारंभ के समय जिस विश्वास के साथ आगे बढ़ा था, वह क्रमशः क्षीण ही होता गया और पद-पद पर शंका होने लगी कहीं गिर न जाऊँ—और शायद वैसा संभव भी होता यदि श्रद्धेय नलिनजी का प्रोत्साहन न मिलता। गुरुवर ब्रह्मचारीजी तथा नलिनजी से निराशा में कितनी सान्त्वना मिलती है यह तो हमारे-जैसा भुक्तभोगी ही जान सकता है। अतः इन आचार्य-द्वय के चरणों में मौन प्रणति के सिवा हम चढ़ा ही क्या सकते हैं !!

'सिद्धि-सदन', पटना
५ मई, ४८।

—सिद्धिनाथ

विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	प्रसाद	१
२.	प्रसाद की नाट्यकला	१९
३.	प्रसाद की भाषा	६१
४.	'प्रसाद' की शैली	६८
५.	'ध्रुवस्वामिनी'	८५
६.	ध्रुवस्वामिनी का ऐतिहासिक पृष्ठाधार	९८
७.	पात्रों का चरित्र-चित्रण	११२
८.	'ध्रुवस्वामिनी' की नारी-भावना	१४२
९.	'ध्रुवस्वामिनी' में दुखान्त-सुखान्त भावना	१५८
१०.	'ध्रुवस्वामिनी' का युग	१६४
११.	'ध्रुवस्वामिनी' एवं प्रसाद के अन्य नाटकों के स्त्री-पात्र	१७८
१२.	उपसंहार	१८९
१३.	परिशिष्ट	१९९

प्रसाद

साहित्य अजस्र प्रवाहिनी सरिता है। भिन्न-भिन्न धाराओं के सम्मिलन से उसे अपनी गति बदलनी पड़ती है। सबल धाराएँ उसके मार्ग में व्यवधान उपस्थित कर उसके प्रवाह को पलट देती हैं तथा निर्बल धाराएँ उसे सबलता प्रदान करती हैं। इस प्रकार सरिता के गत्यात्मक जीवन के ज्ञान के लिए हमें उसके उद्भव और लय, आदि और अवसान का तारतम्य-पूर्वक ज्ञान रखना पड़ेगा। हिन्दी के चबूतरे पर भारतेन्दु ने जो साहित्य के दीपक में पहली बार जीवन और जागृति की लौ लगाई, वह बलती गई, बढ़ती गई, मार्ग की अनेक बाधाओं का, झंझावातों का सामना करते-करते वह आज भी अपनी ज्योति से हमें प्रेमचंद तथा प्रसाद को दिखाकर शाश्वत रूप से जल रही है।

प्रेमचंद ने जहाँ 'आज' को देखा है, आधुनिक वातावरण के आधार पर अपनी कल्पना की तूलिका फेरी है, वहाँ प्रसाद ने 'कल' के अतीत के, पात्र में अपनी कला की अरुणिमा उँडेल दी है। प्रेमचंद ने इस युग-साहित्य के शरीर को सुदृढ़ बनाया, उसमें जीवन दिया, प्रसाद ने उसकी आत्मा को सँवारा। प्रेम-चन्द के अंतर के सामाजिक ने जन समूह के उत्पीड़न को देखकर उस असंख्य भीड़ में ही आहत मनुष्यों की सुश्रूषा करना उचित समझा। जनता का कलाकार जनता जनार्दन की सेवा में आ जुटा। प्रसाद का कवि भीड़ से दूर हटकर अतीत के खँडहरों की रेणुराशि में हीरे एवं मानिक चुनने में ही व्यस्त रहा।

प्रसाद ने अपनी कल्पना एवं कवित्व शक्ति के द्वारा अतीत भारत का चित्र खींचते हुए हमारी राष्ट्रीयता, भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए जो विधान तथा आदर्श उपस्थित किया है उसके लिए वे हमारे आधुनिक युग के आदर्श और भविष्य के पथप्रदर्शक बन जाते हैं। उनका अतीत केवल पौराणिक गाथाओं का उद्गम स्थल ही नहीं है, और न उनके पात्र इतिहास के मूक-स्तम्भ—उनमें आधुनिक समाज की, राष्ट्र की, संस्कृति की चेतना वर्तमान है। वे हमारी समस्याओं में ही लिपटे दीखते हैं, उन्हें हास-अश्रु हमारे-जैसे ही हैं। इतिहास की वह रंगभूमि मानवता तथा काव्यत्व से ओत-प्रोत है। उसमें भविष्य के स्तर के स्तर समाए हुए हैं। प्रसाद का वह जगत एक निराला जगत है—जहाँ निर्जन सागर में लहरियाँ अम्बर के कानों में प्रेम-कथा कहती हैं, कोलाहल वहाँ गाढ़ी निद्रा में सोया रहता है। पर, बहिर्जगत के हलचल को अन्तर्जगत ने आत्मसात करके उसकी भीषणता को मधुरिम रूप देते हुए भी गंभीर बना दिया है। प्रसाद की प्रतिभा ने इतिहास की नीरस दुरूहता को शिव के समान गरल की तरह पान करके साहित्य का सारतत्त्व, जीवन की संजीवनी सुरा हमारे सामने बिखेर दी है—उस बिछलन में हम लोट पोट हो जाते हैं--तृप्त होने पर भी प्यास बनी रहती है!

प्यास की चाट प्रत्येक युग में रहती है। नवीन युग कुछ और ही जाम लेकर उपस्थित होता है, पर प्राचीनता का रंग समेट कर ही। वर्तमान, भूत की ओर आँख उठाये देखता है, भविष्य वर्तमान के प्रति जिज्ञासु है। यह जिज्ञासा-भावना सृष्टि के आदि से चलती आयी है अन्त तक चली जाएगी। सृष्टि के अथ-इति के साथ इसका तार भी बँधा हुआ है। इतिहास

इसी अध्ययन की सामग्री जुटाता है, प्रकाश देता है और इसी लिए साहित्य में वह उपेक्षणीय नहीं। इतिहासकार जिस घटना का विवरण निर्जीव चित्र मात्र प्रस्तुत करता है साहित्यकार उसी ढाँचे पर अपने अंतर को उड़ेल कर उस चित्र में प्राण भर देता है। कुछ सज्जन प्रसाद को अपने पड़ोस की चीजों पर ध्यान न देकर अर्जित से ममत्व की कल्पना देते हैं। उन महानुभावों को हम रवि बाबू के शब्दों में यही उत्तर देंगे— "काव्य में जो भूलें हमें मालूम पड़ेंगी, इतिहास में हम उनका संशोधन कर लेंगे। किन्तु जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास पढ़ने का अवसर न पाएगा वह हतभाग्य है, और जो व्यक्ति केवल इतिहास ही पढ़ेगा और काव्य पढ़ने का अवसर नहीं पायेगा, संभवतः उसका भाग्य और भी मंद है।" कारण इन दोनों में ऐसा अन्योन्याश्रय संबंध है कि किसी भी सीमान्त रेखा से पृथककर हम इनके मूल तत्वों का आनन्द नहीं लूट सकते।

प्रसाद का अतीतवाद आलोचकों के पलायनवाद से सर्वथा भिन्न है। जीवन की वास्तविकता से ऊबकर कवि का उद्देश्य अतीत के शान्त एवं अलौकिक कल्पना कुंजों में मानसिक केलि करना नहीं है। न तो वह सामाजिक दुःख दैन्य को ही भूल सका है और न जीवन की परिणति ऐकान्तिक साधना में ही दिखलाना उसका ध्येय है। प्रसाद के नाटकों के वातावरण हमारे परिचित अतीत के ही घरेलू अंशों से लिए गए हैं। जीवन को बौद्धिक दृष्टिकोण से देखने का प्रथम प्रयास जयशंकर जी ने ही किया। साहित्यिक संक्रातियुग ने इन्हें दो धाराएँ दिखलायीं—क्लासिकल रीतियुग की विकृत शृंगारिकता और प्रतिक्रियावादियों की असत् आदर्शवादिता (pseudo ideal-

ism)। इन दो अप्राकृतिक दृष्टियों के बीच की असीम गहराई में झोंककर प्रसाद ने जीवन को सुष्ठु एवं सरस बनाने के उद्देश्य से एक मध्यम मार्ग की भूमि तैयार की। इसीलिए न तो यहाँ सस्ती भावुकता (cheap sentimentalism) है, न झूठे आदर्श का ढकोसला। प्रसाद ने पीछे घूमकर जो कुछ भी सुनहला दृश्य देखा है उसे ही नाटकों में व्यक्त किया है। आज के जीवन को (focus) करके ही उन्होंने भूत का नक्शा तैयार किया है। तभी तो हमें नारी का विद्रोह पीडित एवं दलित की आह यहाँ सुनाइ पड़ती है। तब प्रसाद को पलायनवादी कैसे कहा जायगा।

इनके नाटकों में चाहे वह धार्मिक समस्या हो, राजनीतिक हो या सामाजिक हो,—सभी की पृष्ठभूमि इतिहास ही है। इतिहास उनके सामने एक खुला खजाना था जिससे अनमोल रत्न लिए जा सकते थे। 'सज्जन' 'प्रायश्चित' तथा 'करुणालय' आदि परीक्षाकाल के नाटकों एव गीति-नाटकों में प्रसाद वेदकालीन, बौद्धकालीन तथा पूर्व मुस्लिमकाल में भटकते रहे हैं। अभी तक उन्होंने कोई निश्चित रजतपथ का निश्चय नहीं किया था बाद के नाटकों में हम उन्हें बौद्धकालीन युग में जमे देखते हैं। बौद्धकालीन से हमारा मतलब सिर्फ गौतमबुद्ध के जीवनकाल से ही नहीं, बल्कि समस्त गुप्त तथा हर्षकालों में प्रचलित बौद्धधर्म की समष्टि से है। इसलिए वेदकाल के बाद बिंबसार से लेकर हर्ष तक के लगभग बारह सौ वर्षों के इतिहास का दिग्दर्शन इनके नाटकों में मिलता है।

जिस कलाकार ने सम्पूर्ण जीवन को अपनी कला का विषय बना लिया उसके सामने एक विस्तृत एवं अतिगहन क्षेत्र दिखलायी पड़ा। कवि एवं अन्वेषक को अपनी प्रतिभा तथा

कल्पना के प्रकटीकरण का एक सुन्दर माध्यम मिला। इतिहास ने उन्हें अतीत भारतीय गौरव की झिलमिली दिखलायी, कवि मचल गया, उसी ओर झुक गया। वह क्यों न झुकता—उसकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को मनमानी क्रीड़ा करने का अवकाश जो मिल गया था! आलोचकों का कहना है कि क्या साधारण आधुनिक परिवार के जीवन का दिग्दर्शन कर कलाकार अपने लक्ष्य की सिद्धि नहीं कर सकता? यह सत्य है कि वस्तु की महत्ता से ही कृति का माहात्म्य सिद्ध नहीं हो जाता। प्रसाद का पूर्वयुग में भटकने का उद्देश्य मूलतः बौद्धिक एवं मानसिक रहा है। देश की वर्तमान दुरवस्था को देखकर कलाकार की पीड़ित आत्मा ने भारत के ही भूत काल से आदर्श निचोड़कर हमारे सामने उपस्थित किया। ऐसा करने में उनका एकमात्र उद्देश्य भारतीय जीवन की गँदलीधारा को एक व्यावहारिक सुखप्रद मोड़ देने का ही है। भारतीय संस्कृति से हमारा अपनत्व रहने के कारण हम उसके सिद्धान्तों को अच्छी तरह हृदयंगम कर सकते हैं और जीवन पर उसी का चुटीला प्रभाव भी पड़ेगा। देशभक्ति, देशहित, स्वार्थत्याग आदि अन्य आदर्श चन्द्रगुप्त, राज्यश्री तथा स्कन्द के चरित्रों में प्रस्तुत किए गए हैं। कार्नेलिया के चरित्र में भारतीय संस्कृति-प्रेम एक प्रधान अंग बन गया है। भारतभूमि की स्वर्गतुल्य सभ्यता से बोझिल होकर उसका अंतःकरण आच्छादित हो बोल उठता है—'यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालन, यह प्रेम की रंगभूमि—भारतवर्ष क्या भुलाई जा सकती है? अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।' अतः पीछे के आलोक में झाँकने का कारण प्रसाद का भारतीय गौरवमय अतीत से प्रेम ही हो सकता है। इस युग में 'भारत

एक और अखंड है' की भावना का प्राचुर्य है। जो इसके प्रतिकूल जाता है वह देशद्रोही है, प्रजा उसे सिंहासनच्युत कर देती है। 'जनमेजय॰', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त'—सभी में भारत को संगठित कर, भिन्नत्व में एकत्व की स्थापना कर बाहरी आक्रमणकारियों को दूर हटाने का प्रयत्न साफ दीखता है। ये भावनाएँ 'कल' की होते हुए भी 'आज' की हैं। इस समय के साहित्य को प्रसाद ने अपनी प्रतिभा में डुबोकर हमारे समक्ष उसे अमर और जीवन शक्ति प्रदान करने वाला बनाकर रख दिया है।

अपने नाटकों का मूलाधार ऐतिहासिक रखने के कारण प्रसाद के नाटकों में अप्रत्यक्ष रूप से एक विशिष्ट गुण आ गया है। इतिहास-सिद्ध तथ्यों को हम अस्वाभाविक नहीं कह सकते और इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों में स्वाभाविकता का समावेश हो जाता है। फिर भी सीमा की संकीर्णता से वह मर्यादित तो रहता ही है। अब उस सीमा में कथावस्तु को सजाने की कुशलता कलाकार पर ही निर्भर करती है। गुलदस्ते में फूल सजाने के लिए माली की सिद्धस्तता ही मुख्य वस्तु है। इतिहास की सीमा लक्ष्मण द्वारा खींचे गए घेरे के सदृश है—उसी में कुशल कलाकार को अपनी वस्तुयें इस तरह से सजानी है जो अस्वाभाविक न लगें। प्रसाद की मौलिक प्रतिभा ने इस क्षेत्र में जो प्रसार पाया है वह स्तुत्य है। वस्तुगत अस्वाभाविकता उनके नाटकों में कहीं नहीं मिलती।

प्रसाद की विचारधारा पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव विशिष्ट रूप में पड़ा है। बौद्धधर्म का उद्गम भगवान बुद्ध की करुणा से है। 'भारतीय इतिवृत्त के धूमिल युग में जब स्थूल कर्मकाण्ड ने अखिल देश को अभिभूत कर लिया था तो सूक्ष्म अन्तर की प्रतिक्रियात्मक वाणी 'तदेजति तन्नेजति' के रूप में फूट

पड़ी थी। इसके बाद शाक्त और शैवों का पल्ला पकड़नेवाले भक्तों का दृष्टिकोण एकबार फिर भौतिक हो गया तो तथागत की सूक्ष्म मुक्ति की उक्ति के रूप में असीम ने स्थूल के प्रति विद्रोह किया।' उस विद्रोह में बौद्धिक करुणा का हाथ ऊपर था। चराचर को करुणा के धागे में बाँधने का उपक्रम उसे एकबार सम पर हिला देने में समर्थ हुआ। उस मानवीय करुणा के अभाव में जो एक विषाद, एक अवसाद, एक ग्लानि फैलकर मानवसमाज की उदासीनता का कारण बनती है उसका दिग्दर्शन प्रसाद के नाटकों में पूर्णरूपेण मिलता है। जीवन को दुखमय मानते हुए भी प्रसादजी उससे ऊबते नहीं। दिवाकर मित्र के शब्दों में प्रसाद ने इसे उपस्थित किया है—'देवि, आत्महत्या या स्वेच्छा से मरने के लिए प्रस्तुत होना भगवान की अवज्ञा है। जिस प्रकार दुःख सुख उसके दान हैं, उन्हें मनुष्य झेलता है, उसी प्रकार प्राण भी उसी की धरोहर है[१]।' 'अजातशत्रु' में वाजिरा इसका कारण बतलाती है—'प्रकृति से विद्रोह करके नर साधनों के लिये कितना प्रयास होता है। अन्धी जनता अँधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ साधन कि सहज प्राप्त आत्मा की सुख-शान्ति को भी लोग खो बैठते हैं। भाई, भाई से लड़ रहा है, पुत्र पिता से विद्रोह करता है। स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं करतीं किन्तु शासन करना चाहती हैं। मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्रकला प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं। बर्बररत, और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं।[२] भगवान बुद्ध ने विश्व की इसी

[१]राज्यश्री, पृ० ४६

[२]अजातशत्रु, पृ० ५०

सदा से होने वाली और सदा रहने वाली दशा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। वही अहिंसा, वही मानवता वही करुणा प्रसाद में ज्यों का त्यों उतर आयी है यह सत्य है कि प्रसाद के दर्शन में अद्वैतवाद और शैवमत के आनन्दवाद भी हिलोरे मार रहे हैं पर उच्च स्वर बौद्धमत के शांतिवाद का ही है।

'प्रसाद' के नाटकों में दार्शनिक चिंतन की मुख्यतः तीन धाराएँ मिलती हैं। प्रथम दार्शनिक धारा वेदकाल से लेकर गीताकाल के प्राचीन ऋषियों के गम्भीर चिंतन से प्रभावित है। दूसरी धारा में बौद्धदर्शन के साथ दुःख तथा निराशावाद का सामञ्जस्य है। तीसरी धारा प्रसाद के मौलिकयुग चिंतन के स्पष्टीकरण में पुंजीभूत है। प्रसाद के मूल में इतिहासज्ञ रहने के कारण और फिर उसका उनसे कवि से साक्षात्कार होने से ये धाराएँ उनके नाटकों में इतिहास के उस काल के दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में प्रकट हुई है। प्रसाद में सदा कवि, दार्शनिक और पुरातत्त्ववेता की तीन सरिताएँ मिलेंगी—नाटक ही त्रिवेणी का तीर्थ स्थान है। कवि, चिंतक और इतिहासज्ञ का यह अपूर्व मिलन है। ये तीनों ऐसे उलझे हुए हैं, ऐसे गुथे हुए, घुले-मिले हैं कि उनमें से किसी एक को दूसरे से पृथक करना संभव नहीं। उपरोक्त दर्शन की प्रथमधारा प्रधानतः 'जनमेजय का नाग यज्ञ' तथा 'चन्द्रगुप्त' में, द्वितीय धारा 'विशाख', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री' एवं 'ध्रुवस्वामिनी' में और तृतीय धारा 'कामना' तथा 'एक घूँट' में मिलती है। 'एक घूँट' तथा 'कामना' में प्रसाद का कवि ही सर्वोपरि है, कल्पना तथा काव्य छलके पड़ते हैं। उनमें आधुनिक समस्या है तथा राजनीतिक प्रश्नों का उत्तर है 'विशाख', 'चन्द्रगुप्त', 'राज्यश्री' एवं 'ध्रुवस्वामिनी' में बौद्धदर्शन

की झलक कम है, पर ये उस काल का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ' तथा 'स्कन्दगुप्त' में बौद्धदर्शन अपनी निराशा, दुःख आदि को छोड़, सरसता और काव्य ग्रहण कर हमारे सामने आया है। बौद्धदर्शन के रूप को प्रसाद ने धातुसेन के शब्दों में स्पष्ट किया है—"अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वास-वाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी! उपनिषदों की नेति-नेति से ही गौतम का आत्मवादपूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचलित हुआ। व्यक्ति रूप में आत्मा में कुछ भी नहीं है।"[1]

प्रेमतत्व

प्रसाद के नाटकों के कैन्वास पर निष्फल यौवन, करुण प्रणय, एवं दर्दीली स्मृति के चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के ऊहापोह से चित्रित हुए हैं। और इन्हीं के साथ प्रसाद का कवि कहीं-कहीं सान्ध्य-क्षितिज की तरह अस्पष्ट-धूमिल सूक्ष्म मानवी मनोवृत्तियों की एक पतली-सी रहस्यपूर्ण रेखा भी खींच देता है। प्रसाद का प्रेमतत्व कोई नया नहीं। 'पुरुष और स्त्री में, तरुण और तरुणी में तरुणावस्था के प्रथम सोपान पर जो सहज भाव एक दूसरे को एक में मिलाने के, आकर्षित करने के उठते हैं, एक दूसरे में समा जाने, तल्लीन हो जाने की तरंगें उद्वेलित करती रहती हैं और जो भाव प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में परिपक्व हो स्थायित्व प्राप्त करते हैं, सच्चे और शुद्ध प्रेम का संचार करते हैं उन्हीं का

[1] स्कन्दगुप्त, पृ० १३०

सफल और स्पष्ट चित्रण प्रसाद के नाटकों में मिलता है। प्रथम दर्शन में ही प्रेम की उत्पत्ति होती है और फिर घनिष्ठता होने पर उसकी गाँठें कड़ी होती जाती हैं। दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास रहता है। प्रसाद जी सम्पूर्णत: अव्यक्त प्रेम के पक्षपाती हैं जिसके साथ कर्त्तव्यप्रेरणा भी अधिक परिमाण में रहता है। उनका प्रेम व्यक्ति की सीमा से निकलकर स्वभावत: किसी व्यापक परिधि में जाने के लिए विकल प्रतीत होता है। इस भावपीठिका पर उन्हें अनन्त के दर्शन होते हैं। प्रकृति और मानव के दु:ख सुख की व्यक्तिगत इकाइयों में अपूर्णता का आभास पाकर कवि ने उन्हें एक सार्वजनिक अह्लाद-विषाद का रूप देकर स्वाधीन उपत्यका में बिठा दिया है। यहाँ व्यक्ति समाज एवं देश के स्वार्थ पर मिटने का आकांक्षी है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना प्रेम की पीड़ा से भीतर ही भीतर घुलती रहती है, तड़पती रहती है, हँसती रहती है; लेकिन उसकी आग कर्त्तव्य के फुहारों से दबी रहती है, उसके दबने में ही उसे आनन्द है। उसके त्याग ने, उसके भीतर के आत्मोत्सर्ग ने स्कन्दगुप्त से स्पष्ट कह दिया—"आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना न जिए। सम्राट, क्षमा। इस हृदय में........आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़ न तो कोई आया और न वह आएगा, अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर, मुझे उसी की उपासना करने दीजिए; उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ, मैं आपकी हूँ, मैंने अपने को दिया है। अब उसके बदले में कुछ लिया नहीं चाहती।[१] वह नहीं चाहती कि दुनिया उसके प्रेम को, देश की स्वाधीनता बेंचकर पायी गई चीज़ समझे! इसी

[१] स्कन्दगुप्त, पृ० १५२।

तरह भीतर ही भीतर जलकर मुस्कुराते रहना तथा प्रेमी द्वारा प्रेम को ठुकराने पर भी उससे शाश्वत प्रेम करना प्रसाद के पात्रों के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है।

प्रसाद किसी भी ऐसे पात्र की कल्पना नहीं करते जिसका जीवन प्रेम से शून्य हो। प्रेम उनके लिए जीवन का आवश्यक पहलू है। चाहे वह पिता हो, पुत्र हो, माता हो, बहन हो, राजा हो, रानी हो, वह किसी से किसी न किसी रूप में अवश्य प्रेम करेगा ही। यदि प्रसाद के कवि-हृदय को प्रेम की टीस पड़ी तो वह उसे अंतर में संजोएँ रहेगा—बाहर के कोलाहल में शायद कोई उसकी उपेक्षा न करे! मरणान्तक वेदना भी अन्दर ही अन्दर अपनी व्याख्या करेगी। आप ही अपनी सुनेगी, आप ही अपनी कहेगी। बाहर वाले दूसरों के दुःख दर्द को क्या समझें! कहीं उनकी दृष्टि में प्रेम मनबहलाव की वस्तु होने के कारण हेय न समझ ली जाय—इसीलिए प्रसाद का प्रत्येक पात्र हृदय की टीस को बाहर व्यक्त नहीं करना चाहता। आंतरिक गहराई लिए वह वेदना की सघन घटाओं को हृदयाकाश में ही मँडराने का अवकाश देता है। सुवासिनी अपनी प्रेमजनित टीस की व्याख्या करती है।

"निकल मत बाहर दुर्बल आह!
लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच
तड़प ले चपला-सी भयभीत।"[1]

प्रसाद ने प्रेमी के मार्ग में यदि घनी छाँह लगाई है तो उसे काँटों से बचकर चलने की भी हिदायत कर दी है। आरम्भ में उनका प्रेम शुद्ध उज्जवल एवं सात्विक नहीं था। 'अजातशत्रु,

[1]चन्द्रगुप्त, पृ० १३ (प्रथम अंक)

के पहले की रचनाओं में प्रेम वासना की मीठी चासनी में लटपट है। उसके बाद उसने इस कोलाहलमय संसार से दूर शुद्ध रजतपथ का मार्ग पकड़ा। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है, प्रेम में वासना का अंश कम और भोग का भाग शिथिल होता गया है। यह क्रम प्रसाद के जीवन, शक्ति एवं मस्तिष्क के विकास के अनुरूप ही है। कालान्तर में वह उज्जवल और अर्पणकारी रूप में व्यक्त होता गया है। फिर तो कहीं वासना का नंगापन तथा अश्लीलता का आभास तक नहीं दिखायी पड़ता। सर्वत्र रूप पर आवरण है और वासना पर नियंत्रण। इस भावभूमि पर प्रसाद, महाकवि कालिदास की प्रेम सम्बन्धी भावना की एकता लिए दीखते हैं। ऐन्द्रिक प्रेम वहाँ दुर्वासा का अभिशाप लिए खड़ा है, शंकर के अग्नि-विस्फोट से सुसज्जित है यहाँ का वासनात्मक प्रेम भी एक ओर ध्रुवस्वामिनी की भर्त्सना, एवं श्यामा का प्रायश्चित तथा दूसरी ओर विजया की मृत्यु एवं सरमा के गर्हित जीवन की ओर इंगित करता है। प्रसाद जी की मान्यता है कि 'दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है?' (ध्रुवस्वामिनी) वासना के पंक में डुबोकर उसे गन्दा बनाने वाला व्यक्ति समाज के शाप को निमन्त्रित करता है।

प्रेम में असफलता का अनुभव उसकी अपूर्णता तथा उसकी वासनामय भावना का द्योतक है। जहाँ आत्म समर्पण तथा आत्म विस्मरण का भाव जितना ही प्रबल है वहाँ प्रेम उतना ही शुद्ध, उतना ही सात्विक है। कवि के प्रेम का निष्कर्ष हम यह निकाल सकते हैं—'शुद्ध प्रेम आत्म समर्पण है। प्रेम का स्वभाव देना है लेना नहीं। जो जितना ही देता है वह उतना ही प्रेमी है।' प्रसाद अपने हृदय की लालसा का उत्तर देते हैं।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब।
आँसू के कन-कन से गिनकर
यह विश्व लिए हैं ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार ?—
मुझको न मिला रे कभी प्यार ![1]

प्रसाद ने विरह को प्रेम का पूरक माना है। वेदना की आँच में तपे बिना प्रेम की कलुषता नहीं मिटती। प्रेमी हृदय जीवन के सूनेपन में ही प्रेमपात्र का उचित मूल्याङ्कन कर सकता है। सान्निध्य की अतिशयता के कारण वासना की ओर मुड़ने का बराबर खटका लगा रहता है। वियोग में सभी कामनाएँ भस्म होकर शुद्ध प्रेम को आगे बढ़ाती हैं—तभी जीवन की अमा राका बन जाती है। प्रसाद ने इसीलिए प्रेम और विरह का दार्शनिकभूमि में समझौता करवा दिया है। यहाँ विरह जन्य वेदना जो इतरजनों के लिए अभिशाप है, वरदान के रूप में दिखायी, पड़ती है। विरह द्वारा प्रेमी-हृदय स्थित प्रेम की मांसलता को एक अत्यन्त भावनापूर्ण हृदय मिलता है। और तब विरह की आँच से कल्याण की सलिला फूटती है। मरुभूमि की धधकती ज्वाला में, जहाँ चातकी कण-कण को तरसती है, प्रेमी का हृदय उन्हीं जीवन-घाटियों में सजल बरसात बनकर उमड़ पड़ता है—

"निर्मम जगती को तेरा मगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला।"'आँसू'

मधुमक्खी सभी फूलों से रस इकट्ठा करती है और उन्हें

[1] लहर पृ० ३७.

शब्द-भाण्डार के रूप में विश्व का दान देती है। 'प्रसाद की प्रतिभा ने इतिहास के युगों से दार्शनिकता पूर्ण अध्ययन के कण इकट्ठे किए हैं। और उनके काव्यत्व ने, कवि ने अपनी सरसता, सहृदयता के कोषों में संचितकर उनमें मधुरता का सार भर दिया है। दर्शन और अध्ययन के ये कण दार्शनिकता और ऐतिहासिकता को त्याग कर मानवता को, मानवी करुणा को ग्रहण किए हुए हैं।'[१] इसी करुणा ने जब आज मानवता की पराजय देखी, नवाविष्कारों, नवीन अन्वेषणों से मानव के बदले दानव को देवत्व की हँसी उड़ाते देखा और संसार भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यंत्र और प्रतारणा की धाँधली देखी तब वह चीत्कार कर उठी। प्रसाद के अनुसार विचारशीलता ही एक ऐसा गुण है जो मानव को मनुष्य की संज्ञा देता है अन्यथा उसमें पशुता उबल पड़े और वह बर्बर हो जाय। 'मनुष्य साधारण धर्मपशु है विचारशील होने से मनुष्य होता है और निःस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।' यहीं हमें मनुष्यता के, देवत्व के, दर्शन होते हैं। जब हममें यही देवत्व, जागृत होगा तभी प्रसाद के आदर्श—'विश्वभर में एक कुटुम्ब स्थापित और मानव मात्र-स्नेह परिपूरित हो—पर पहुँच सकते हैं।

प्रसाद ने संसार में रहने वाले प्राणियों के दो वर्ग किए हैं—कुछ रोने वाले कुछ हँसने वाले। एक के भाग्य में दुःख है, दूसरे में सुख। लेकिन प्रसाद के सामने इनका उतना महत्व नहीं। उनका कहना है कि मनुष्य यहाँ आते हैं, आवें; उनके लिए यदि जगत सम्पूर्णतः सुखमय या दुःखमय ही रहे तो उनका जीवन

[१] हिन्दी नाट्य चिंतन, पृ० ६२

उत्पीड़ित हो जायगा, सुख भी दु:ख हो जायगा। अत: जीवन से एकरसता को दूर करने के लिए दोनों का सम्मिलन आवश्यक है। जीवन के दु:ख-सुख की सच्ची विवेचना 'चन्द्रगुप्त' की मालविका द्वारा होती है—"फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरंद गिराकर मुरझा जाते हैं। आँसू से धरती को भिगोकर चले जाते हैं। एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है, नि:श्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वीतल रोने ही के लिए है? नहीं; सबके लिए एक ही नियम तो नहीं। कोई रोने के लिए है तो कोई हँसने के लिए।[1]

प्रसाद की मानवता का एक महत्वपूर्ण पहलू उनकी नारी समस्या है। नारी स्वातंत्र्य के इस युग में उनकी पैनी आँखें देखती हैं कि इस सम्मान के आन्दोलन में पुरुष की कितनी अतृप्त आकांक्षा तथा वासना निहित है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' में प्रसादजी का विश्वास है। और, इसीलिए नारी के कुचलने की, उसे सींकचों में बंद कर रखने की जो प्रवृत्ति आज के समाज में फैली हुई है उसका चित्र वे प्रस्तुत करते हैं। स्त्रियाँ हैं क्या? वे हैं 'धनियों के प्रमोद का कटा-छँटा हुआ शोभा वृक्ष। कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गई! माली के मन से सँवरे हुए गोल-मटोल खड़े हो।"[2] उसे अपनी इच्छा आकांक्षा से कुछ भी करने की आज्ञा नहीं। वे दुर्बल हैं, अबला हैं। वे रोती हैं, खीझती हैं, उन्हें वेदना होती है, वे समाज के अत्याचारों को—उसके कठोर दंडों को सहती हैं, समाज की दृष्टि में पतिता समझी जाती हैं—किन्तु फिर भी

[1]चन्द्रगुप्त, पृ० ७८

[2]चन्द्रगुप्त, पृ० १९२

उन्हें मूक रहना पड़ता है। बिना कुछ भी आपत्ति के सब कुछ सह लेना उनका कर्त्तव्य है। यही उनका आदर्श है। सेवा करनी चाहिए। गाला के अनुसार नारी जाति का सृजन विधाता की एक झुँझलाहट है। वह कहती है—"स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।"[२] यही तो है आज नारी जीवन !

परिचय

माघ शुक्ल सं० १९४६ में काशी जैसे पावन तीर्थ स्थान में जयशंकर प्रसाद जी का जन्म हुआ। देवीप्रसाद सुँघनीसाहु से विख्यात धनी तथा प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर आपने सदियों से रहे तीर्थस्थान काशी को साहित्यिकों का भी तीर्थस्थान बनाकर उसकी कीर्ति में चार चाँद लगा दिए। स्कूल में तो आपको अँग्रेजी की शिक्षा केवल आठवें वर्ग तक मिली थी परन्तु आपने घर पर ही अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू एवं संस्कृत में अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण काफी योग्यता प्राप्त करली। काशी उन दिनों कवियों का 'ग्रैंड जंकशन' था; उनके संसर्ग से बाल्यकाल में ही आपकी कवित्व शक्ति के विकास का अनुकूल तथा उपयुक्त क्षेत्र मिला। समस्यापूर्त्ति वाले कवियों का जमघट इनके दरवाजे पर ही लगा रहता था, जिसका प्रभाव किशोर जयशंकर के हृदय पर

---

[१] अर्थात् पति चाहे सदाचारहीन हो, चाहे कामी दुराचारी हो चाहे गुणहीन हो, सती साध्वी स्त्री को उसकी सदा देवता की तरह सेवा करनी चाहिए।

"विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥" मनु० ५।१५४

[२] तितली

काफी रूप से पड़ा और अग्रज शंभुरत्न की मृत्यु के पश्चात् जब सभी बहीखाते इन्हीं के सिर पर लाद दिए गए तो एकाकी मन कभी-कभी उड़-उड़ कर रद्दी कागजों की पीठ पर कुछ लिखने लगता। अन्यमनस्क हो किसी को फेंकता, किसी को संजोता धीरे-धीरे काव्य की धारा फूट पड़ी। १५ वर्ष की अवस्था से ही आपने सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ भेजनी प्रारम्भ कर दीं। सं० १९६३ में प्रथम बार 'इन्दु' में आपकी कविता प्रकाशित हुई। फिर तो हिन्दी-संसार में हलचल मच गई। मासिक 'इन्दु' में नियमित रूप से आपकी कविताएँ, कहानियाँ आदि छपने लगीं। युग की शैली से आपकी शैली भिन्न थी, विचार-धाराएँ भिन्न थीं। चालीस वर्ष की अवस्था में आपका निधन हो गया—निधन-तिथि सन् १९३७ (कार्तिक शुक्ल ११ सं० १९९४) है।

प्रसाद का आविर्भाव एक ऐसे समय में हुआ जब हिन्दी नाटकों पर बंगला का आतंक था। द्विजेन्द्रलाल राय की धूम थी प्रसाद ने बंगला को इन लहरों को झेला और उनके कलाकार ने मौलिक रचनाएँ देकर हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के मानसिक धरातल को ऊँचा कर दिया। बंगला के लिये जो आकर्षण था, जो ललक थी, उसका शमन प्रसादजी ने किया—वह प्रायः उसी कोटि की वस्तुएँ देकर, जिस कोटि की बंगला दे रही थी। 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' में प्रसाद का शिशु नाटककार अपने पूर्वजों की बोली सीख रहा है। 'कल्याणी-परिणाम' के कथानक में द्विजेन्द्रलाल की आत्मा है, पर 'टेकनीक' प्रसाद की अपनी है। बाद के नाटकों में प्रसाद का नाटककार अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो अपनी कहानी आप कह रहा है। वहाँ वह है दूसरा कोई नहीं।

प्रसाद के मुख्य नाटकों की तालिका में हमें 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री' एवं 'कामना' को सम्मिलित करना पड़ेगा। कामना रूपकबद्ध है, अन्य सभी ऐतिहासिक है।

नाटकों का निर्माणकाल सं० १९६७ (सन् १९१० ई०) से 'सज्जन' की रचना के साथ आरम्भ होकर सं० १९९० तक 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना के पश्चात् समाप्त होता है। इन २३ वर्षों में ही प्रसाद की नाट्यकला की सभी अवस्थाएँ मिलती हैं।

२

प्रसाद की नाट्यकला

'एकबार कई व्यक्ति एक मन्दिर में गए। पूजा के उपरान्त वहाँ के पुजारी ने सभी व्यक्तियों को सुरापान कराया। पर सुरापान का प्रभाव सबों पर भिन्न-भिन्न ही पड़ा। किसी को वह मीठा, किसी को कड़ुआ, किसी को शांतिदायक और किसी को उन्मादपूर्ण मालूम हुआ।'[1] कलाओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही सिद्धान्त-वैषम्य हुआ करता है। कितने लोगों पर तो कला ने अपनी उपादेयता की ही मुहर मारी है और इसी से वे 'कला में जीवन की उपयोगिता' देखते हैं, दूसरे दल के लोगों के लिए 'कला का अस्तित्व कला के लिए' है। इसलिए उनका नारा (slogan) कला के लिए कला (art for art's sake) है।

कला के प्रभाव के विषय में जो भी मतभिन्नता हो पर उसकी उत्पत्ति के विषय में दो मत होना सर्वथा अनुपयुक्त है। हमारा मत तो यह है कि मानव ने जब अपनी ज्ञान की आँखें खोलीं तभी से कला की उत्पत्ति हुई। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि जब मनुष्य ने अपने जीविकोपार्जन के साधन को जुटा लिया तब उसकी आँख प्रकृति की शोभा पर गई। वह प्रकृति के सौंदर्य से अभिभूत हो उठा। उसी समय उसके हृदय के उद्गार कला के रूप में फूट पड़े। कला प्रकृति के ऊपर मानव विजय का सूचक है। मनुष्य ने प्रकृति के सौंदर्य को देखा, कोमलता को देखा और देखा उसकी कमनीयता को। उस सौंदर्य, कोमलता और कमनीयता में उसने अपने मनोभावों

[1]इटली के चित्रकार रॉफेल की उक्ति।

को मिलाया और बस कला की उत्पत्ति हुई। कला मानव-सृष्टि है। जब तक मनुष्य प्रकृति के वशीभूत रहता है, तब तक कला की जरूरत नहीं रहती, और इसलिए उसकी सृष्टि भी नहीं होती। जब मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह प्रकृति के विरुद्ध अपनी सृष्टि करता है। इसीलिए कलाकार को ब्रह्मा तुल्य माना गया है।

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप कला में भी कई शाखा-प्रशाखाएँ फूट पड़ी जो विभिन्न नामों से सूचित की गईं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—वस्तुमूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य। काव्य कला के भी दो भेद हैं—दृश्य एवं श्रव्य। नाटक दृश्य काव्य का एक अंग है। नाटक के मूल में नट् धातु है जिसका अर्थ नाचना होता है। अतः प्रारम्भिक अवस्था में इसका स्वरूप अवश्य ही नृत्य के रूप में रहा होगा। पहले लोग नाचकर अपने भावों को प्रकट करते थे। पर पीछे नृत्य गौण हो गया और कथावस्तु का निकास होने लगा। इसी रूप का विकसित रूप आज का नाटक है।

इन सभी कलाओं में नाट्यकला का स्थान सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च है—'काव्येषु नाटकं रम्यं'। जहाँ अन्य कलाएँ प्रकृति के एक स्वरूप को अपने विशिष्ट तरीके से व्यक्त करती हैं, वहाँ नाट्यकला सश्लिष्ट तरीके से व्यक्त करती है। अन्य कलाएँ जहाँ अपने भावों के प्रकटीकरण के लिए दृश्य अथवा श्रव्य तरीकों को काम में लाती हैं वहाँ नाट्यकला दोनों तरीकों को, अपने प्रयोग में लाती हैं। नाट्यकला में प्रभाव की प्रेषणीयता शक्ति (Communicability) अधिक मात्रा में रहती है।

नाटकों का पदार्पण सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुआ। नाटकों या रूपकों के सर्वप्रथम विकास के चिह्न ऋग्वेद में मिलते हैं।

ऋग्वेद के कई एक सूत्रों में कुछ संवाद हैं—जैसे यम और यमी का संवाद, पुरूरवा और उर्वशी का सम्वाद इत्यादि। इन्हीं सम्वादों को पीछे जाकर कई एक नाटककारों ने विशद रूप दिया है। हिन्दुओं के विचार में नाटक पञ्चमवेद—माना जाता था। उनका विश्वास था कि भरत मुनि ने नाटकों की रचना संसार के कल्याण के लिए की है। अन्य देशों में, विशेषतया यूरोप में, नाट्यकला घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी। धार्मिक ईसाई का यह विश्वास था कि लोगों को पाप पर ले जाने के लिए ही शैतान ने आमोद-प्रमोदों की सृष्टि की है।

रोम में नाटक खेलने वालों का कुछ भी आदर नहीं होता था। इसके विपरीत संस्कृत और प्राकृत साहित्य उत्तमोत्तम नाटकों से परिपूर्ण है। कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुंतल' के समान शायद ही कोई नाटक विश्व-साहित्य में हो। भारत में नाटकों के विकास के कारण ही नाटक की कई शाखा-प्रशाखाएँ फूट पड़ीं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इसके अनेकानेक भेद बताए हैं, यथा प्रहसन, डिम, व्यायोग आदि। पीछे हिन्दुओं की स्वतन्त्रतापहरण के साथ ही साथ नाटकों के स्वर्ण युग का भी अपहरण हो गया। अपभ्रंश काल में नाटकों का सर्वथा अभाव रहा। अपभ्रंश की भस्म से जब खड़ी बोली का रूप निखरने और बिखरने लगा तो नाटकों की कमी का ज्ञान हुआ। पर अभी तक खड़ी बोली इस उपयुक्त नहीं हुई थी कि संवादों या कथोपकथनों के विशद भार को वह पूर्णरूपेण वहन कर सके। पद्य की भाषा नाटकों के निमित्त सर्वथा अनुपयुक्त जँची। शीघ्र ही खड़ी बोली में गद्य का विकास भी होने लगा। मुग़ल राज्य का सूर्यास्त काल हिन्दी गद्य के लिए अरुणोदय सिद्ध हुआ। इसका विशेष

कारण यह था कि मुग़लों के पतन के साथ ही साथ दिल्ली निवासी पूर्व की ओर आने लगे। वे अपने साथ ही साथ खड़ी बोली के गद्य को भी ले आने लगे। इसके अतिरिक्त अँगरेजों के आगमन तथा ईसाई मिशनरियों की संस्थापना से खड़ी बोली के गद्य की भाषा काफी पुष्ट होने लगी। भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र की साधनाओं ने तो फिर खड़ी बोली के स्वरूप में जान फूँक दी और फिर यह हमारी साहित्यिक रेलगाड़ी की पटरी बन गई। साहित्य की गाड़ी अब निर्भय और निर्विघ्न बढ़ने लगी। आज हमारा साहित्य प्रगति के पथ पर दूर निकल चुका है। आज हमारे साहित्य के अंग-प्रत्यंग काफी पुष्ट होने लगे हैं और उसके शरीर की कान्ति चाँदनी से हमारा साहित्याकाश भी पूर्णतया प्रकाशित हो गया है। पर साहित्य की इस प्रगति को ध्यान में रखते हुए हमारे नाट्यसाहित्य की प्रगति काफी पिछड़ी है।

'प्रसाद' के पूर्व हिन्दी में नाटकों की स्थिति—

हिन्दी साहित्य की नाट्यप्रगति को ध्यान में रखते हुए निम्न प्रकार के दृष्टि-विन्दु प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

१. भारतेन्दु युग के नाटक
२. संस्कृत से अनूदित नाटक
३. द्विजेन्द्रलालराय के नाटक
४. प्रसाद के नाटक
५. वर्त्तमान समस्या नाटक

भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास ने सर्वप्रथम कुछ नाटकों की रचना की थी और पीछे उन्होंने कुछ नाटकों के अनुवाद भी किए। भारतेन्दु ने भी कुछ अनुवादों से नाटकों की संख्या में

वृद्धि की ओर कुछ मौलिक रचनाओं से। यद्यपि भारतेन्दु जी का यह प्रयास सर्वथा सराहनीय है और उन्हें हम नाट्यरचना का अग्रदूत कह सकते हैं, फिर भी उनकी रचनाएँ आदर्श नहीं प्रस्तुत कर सकीं। उनके अधिकांश नाटक तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं को ही लेकर चले। उनके नाटकों में राष्ट्रीय जागरण के संदेश एकत्रित हैं। 'भारत दुर्दशा' में तो भारत की वर्तमान दुर्दशा का ही चित्र है। भारतेन्दु ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से परवर्ती नाटककारों के सामने एक नाटक की रूपरेखा प्रस्तुत कर उस दिशा में बढ़ने को प्रेरित किया।

उसके पश्चात् कई महानुभावों ने संस्कृत के उत्कृष्ट नाटकों को भाषान्तरित किया। पर उनके नाटकों में मौलिकता की गन्ध नहीं मिली। लेकिन पाश्चात्य नाट्यकला की चकमक ज्योति और भड़कीली पॉलिश की चकाचौंध में संस्कृत नाटकों का प्रकाश मन्द हो गया। शेक्सपियर और मौलियर के नाटकों के अनुवादों का जोर शोर से स्वागत हुआ और उनके पाठकों की संख्या बढ़ने लगी। पर इन अनुवादों में मौलिकता का सर्वथा अभाव होने के कारण जन-साहित्य में ये आहृत नहीं हो सके। जी० पी० श्रीवास्तव द्वारा अनूदित मौलियर के नाटकों में मौलिक रचना का अभ्यास एकदम लुप्त सा है। अतः ऐसे नाटकों का प्रचलन अधिक काल तक न हो सका।

इसके बाद हिन्दी में बँगला साहित्य के नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया जाने लगा। द्विजेन्द्रबाबू के ऐतिहासिक नाटकों ने तो हिन्दी साहित्य में एक हलचल एवं क्रान्ति पैदा कर दी जो बहुत समय तक चलती रही। इनके नाटकों में ऐतिहासिक चरित्रों का चित्रण अत्यन्त सुन्दर रूप से हुआ है। हिन्दी में इनके नाटक अनूदित ही नहीं हुए वरन् रंगमंच पर सफलता

से खेले भी गए। इनके नाटकों से हिन्दी प्रेमियों को उसी प्रकार के नाटकों की रचना हिन्दी में भी प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली। अतः द्विजेन्द्रबाबू के नाटकों द्वारा हिन्दी साहित्य काफी लाभान्वित हुआ।

द्विजेन्द्रबाबू के नाटकों ने जब हिन्दी में एक उथल पुथल मचा रक्खी थी, उसी समय पारसी कम्पनियों के नाटकों के द्वारा जनता खिंची आ रही थी। इनके नाटक रंग-मंच के अधिक उपयुक्त थे। 'इनमें साधारण जनता के मनोरंजन की सामग्री तो अवश्य रहती थी पर संस्कृत हृदय का संतोष उनसे नहीं हो पाता था।' इनके नाटकों में मनोरञ्जन की सामग्री अधिक होने के कारण ही, इनका प्रचार अधिक हुआ। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के नाटकों को प्रवेश करने का श्रेय श्री नारायण बेताब को है। इनका 'महाभारत' नाटक सबसे पहले कलकत्ते के अल्फ्रेड कम्पनी में अभिनीत हुआ। इसी प्रकार से नाटककारों में पं० राधेश्याम जी कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहर और आगाहश्रजी की गणना है। श्री राधेश्याम के नाटकों में एक आध कृतियाँ कुछ अच्छी हुई हैं, उदाहरण के लिए 'वीर अभिमन्यु' का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है।

इसके बाद 'प्रसाद' का युग आया और सर्वप्रथम इनकी रचनाओं के द्वारा हिन्दी साहित्य का नाट्य साहित्य गौरवान्वित और पूर्ण हुआ। इनके नाटकों का स्थान बहुत ही उच्च है।

'प्रसाद' युग के पश्चात् का युग समस्या-नाटकों का युग है। इन नाटकों में फ्रायड के सेक्सवाद का पूर्ण प्रतिफलन हुआ है। पाश्चात्य साहित्य के नाटककार इब्सन और शॉ का अनुकरण इन नाटकों में किया गया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास आदि का गणना ऐसे ही नाटककारों में हैं।

नाटकों का कथानक

प्रसाद की नाट्यकला की विवेचना करते समय हमें सर्वप्रथम उनके व्यक्तित्व से परिचित होना होगा। किसी कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी रचनाओं में एक गहरा सम्बन्ध रहता है। उसके व्यक्तित्व को उसकी कला से किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता है। जैसे समुद्र अपनी आकुलतरङ्गों को अपने हृदय के गहरेपन में समेट धूप में हँस उठता है या जिस प्रकार आकाश झंझा के झोंके को और विद्युत् की चमक को अपने हृदय में समेटकर चाँदनी की हँसी हँसता है—वैसा ही व्यक्तित्व प्रसाद जी का है। उनमें शिवत्व अपनी चरम सीमा को पार कर गया है। हलाहल पानकर भी वे हँसते ही रहे, उनके चेहरे पर कोई विषाद की रेखा भी न आई। ऐसा व्यक्ति वर्त्तमान सभ्यता की कृत्रिम चकाचौंध में आनंद की खोज नहीं कर सकता वह तो भीतर ही भीतर पैठता है और वहीं से ऐसे रत्नों को निकालकर हमारे सामने प्रस्तुत करता है कि जिसकी नवीनता और स्वाभाविकता पर हम बरबस लट्टू हो जाते हैं। प्रसाद जी ने अतीत की सागर-लहरी में गोते लगाये हैं जो अवनी के कोलाहलमय संसार से दूर है। और जहाँ अम्बर की प्रेम की कथा कानों में कही जाती है। उस प्रेम कथा को प्रसाद जी ने भी सुना है और वे ही गल्प नाटकों एवं काव्यों में सिमटे पड़े हैं। इसीलिए उनके नाटकों में हमारी अतीत सभ्यता के ही ताने-बाने बुने गए हैं और उस ताने-बाने के द्वारा ही हम उस अतीत को साकार रूप में देख सकते हैं। अतीत के पृष्ठाधार पर खड़े होने के कारण प्रसाद के व्यक्तित्व में एक दार्शनिक धूमिल छाया आ गई है। कोई

कलाकार कितना भी अतीत के सागर में गोता क्यों न लगाए, पर फिर तो उसे ऊपर आना ही पड़ेगा और युग की समस्याएँ तो उसे आकर्षित करेंगी ही, इसलिए उससे विमुख रहते हुए भी उसकी रचनाओं में उसके युग की समस्याएँ आ ही जायँगी! कथावस्तु के आधार पर प्रसाद की रचनाएँ तीन कोटि में आयेंगी—(१) ऐतिहासिक (२) दार्शनिक (३) वर्तमान समस्या मूलक।

इनके ऐतिहासिक नाटकों में राज्यश्री, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि आवेंगे, दार्शनिक नाटकों के अंतर्गत 'कामना' है। 'एक घूँट' वर्तमान समस्यामूलक है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' तथा 'करुणालय' आदि पौराणिक नाटक हैं। पर प्रधानतया इनके नाटक ऐतिहासिक ही हैं। अतीत के क्षेत्र में विचरण करके ये उसका कोना कोना झाँक आए हैं। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों संस्कृतियों का समावेश इन्होंने अपने नाटकों में किया है। जनमेजय से लेकर हर्षवर्द्धन काल तक के इतिहास की शृंखलित घटनाएँ प्रसाद के नाटकों में एक विशिष्ट मधुर गहराई लिए प्रकटित हैं। इस प्रकार प्रसाद जी के नाटकों का प्रतिपाद्य विषय बहुत व्यापक है।

कलाकार की लेखनी में एक ऐसी जादू होती है जिसके द्वारा वह मिट्टी में भी स्वर्णिम आभा का समावेश कर देता है। कलाकार कल्पना लोक में विचरण करता है और उस वातावरण में जो सृष्टि करता है वह स्थान और काल के परदे को फाड़ डालता है। उसमें संकुचित भावना का तनिक भी आभास नहीं मिलता है। वह मानव जगत् के भेद भावों की तंग दीवारों को तोड़ देता है और इस प्रकार मानव को पूर्ण मानवता का सन्देश देता है। प्रसाद जी ने इतिहास के कंकाल में कल्पना के समावेश

से जान फूँक दी है। इसीलिए उनके नाटकों में कहीं-कहीं इतिहास की घटनाओं या तथ्यों का उल्लंघन भी हुआ है। चन्द्रगुप्त का मालव और क्षुद्रकों के विरुद्ध जो विरोध दिखलाया गया है वह इतिहास-विरुद्ध है। फिर चाणक्य का बन्दी होना, तथा चंद्रगुप्त और फिलिप्स के बीच कार्नेलिया के लिए युद्ध करना प्रसाद जी की कल्पना का फल है। उनके स्त्रीपात्र कल्पना के पालने पर ही भूलकर उन्नतिशील हुए हैं। देवसेना, वासवी, मन्दाकिनी आदि प्रसाद की कल्पना जगत् की स्नेहमयी भाव मूर्तियाँ हैं उनका अस्तित्व इस कठोर मानव जगत् में नहीं है। प्रसाद की कल्पना इतनी महान है कि जहाँ वह इतिहास से अलग होती है वहाँ ऐसी विराट् रचना प्रस्तुत करती है कि वह इतर कवियों तथा पाठकों के परे की वस्तु हो जाती है। 'कामना' रूपक तो कल्पना की पुतली सी ही जँचती है। उसमें कल्पना का वह विराट् दर्शन नहीं जो 'कामायनी' में है। उसमें कल्पना कोमल-कोमल क्यारियों से गुजरती है, इसलिए उसमें गहनता और गम्भीरता नहीं आने पाई है। यदि 'कामायनी' एक कैलाश की ऊँची चोटी है तो 'कामना' एक समतल उपत्यका है।

प्रसाद जी केवल मौलिक सहित्यकार ही नहीं प्रत्युत एक प्रकांड पंडित भी थे। नाटकों की रचना करने के पूर्व उन्होंने भारतीय इतिहास के विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन के साथ ही साथ प्रकटीकरण को रूपरेखा निश्चित करने के लिए पूर्व एवं पश्चिम के प्राचीन तथा नवीन नाट्य-सिद्धान्तों का पूर्ण मंथन किया। आधुनिकता से प्रभावित रहने पर भी उनके नाटकों की मूल चेतना सांस्कृतिक है। यूरोपीय नाट्यशास्त्र द्वारा उन्हें अभिव्यक्ति की शैली मिली, पर 'प्रसाद' के मानस में बैठे भारतीय को उस 'टेकनिक' के लिए भारतीय आत्मा ही रखनी पड़ी। इस प्रकार

हम उनके नाटकों में यदि भरतमुनि आदि प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्रियों के बिषयों का नवीन दृष्टिकोण से प्रयोग देखते है तो पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों का भारतीयकरण भी। बाहर से आयी धारा को वे जब तक भारतीय नहीं बना लेंगे तब तक वह उन्हें ग्राह्य नहीं।

दोष-कथावस्तु

कथावस्तु के सम्बन्ध मे बिचार करते समय हमें जो 'प्रसाद' के नाटकों में दोष मिलता है वह है अनावश्यक विस्तार। कथा-वस्तु के विस्तार के निमित्त उन्होंने अनावश्यक कथोपकथन की योजना की है इन अनावश्यक कथोपकथनों की योजना से नाटकों में शैथिल्य का समावेश हो गया है। कुछ ही नाटक इस शैथिल्य से वंचित हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' ऐसी ही कृति है जिसमें सक्रियता का इतना तीव्र वेग है कि शैथिल्य नहीं आने पाया है। उसमें कथोपकथनों का समावेश उचित मात्रा में हुआ है। हिजड़ा, बौना, इत्यादि में जो कथोपकथन हुए हैं कुछ अनावश्यक विस्तृत हो गए हैं फिर भी शिथिलता के दोष से यह रचना वंचित है। अन्य नाटकों में यह दोष प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ता है। ऐसा विस्तार हम उन स्थलों पर पाते हैं जहाँ कथा की अनवरत प्रवाहित धारा को रोककर नाटककार दूसरा प्रसङ्ग उपस्थित करता है। 'अजातशत्रु' में शक्तिमती और दीर्घकारायण का विवाद इसी प्रकार का है। 'चन्द्रगुप्त' के बन्दीगृह में चाणक्य, राक्षस और बररुचि आदि के वाद-विवाद भी उसी प्रकार के हैं।

फिर स्वगत भाषणों के द्वारा भी नाटककार ने कथावस्तु विस्तार की योजना की है। ये स्वगत भाषण इतने लम्बे हो गए

हैं कि रंगमञ्च की दृष्टि से भी पूर्णतया अनुपयुक्त जँचते हैं। इन सब कारणों से प्रसाद के नाटक केवल पढ़ने वाले नाटक की गिनती में आते हैं, वे अभिनय की दृष्टि से सर्वथा असफल जंचते हैं! इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने अपने नाटकों में थोड़ी सी बातों की सूचना देने के लिए भी एक सम्पूर्ण की अवतारणा की है। इससे कथावस्तु में शैथिल्य आ जाता है। इनके नाटक अनेकानेक दृश्यों से भरे पड़े हैं। प्रवेशक, विष्कंभक आदि के दृश्य जो नदाकदा दो अंकों की शृंखला मिलाने के निमित्त आते हैं, उनका उपयोग इन्होंने नहीं किया है, पर ऐसे दृश्य हैं अवश्य। 'चन्द्रगुप्त' में मालव-क्षुद्रकों के परिषद् की योजना थोड़े से ही शब्दों के भीतर की जा सकती थी और उससे नाटक में सक्रियता आने की भी संभावना अधिक थी पर प्रसाद जी ने उसके निमित्त एक दृश्य ही खड़ा कर दिया है। चुने स्थलों की धार्मिक अभिव्यक्ति के लिए कालिदास नें जिस प्रकार से संयमित भाषणों का उपयोग किया है, वैसा व्यवहार प्रसाद में नहीं दीखता।

अंक एवं दृश्यों की योजना

प्रसादजी भारतीय संस्कृति के उपासक थे। संस्कृत के अध्ययन ने इनकी इस उपासना को और भी गहरा कर दिया था। संस्कृत नाटकों में पाँच अङ्कों से कम को नाटकों की संज्ञा दी ही नहीं जाती है। पर युग की माँग भी उनके सामने थी। उसकी उपेक्षा वे किसी भी हालत में नहीं कर सकते थे। मानव जीवन अधिक संघर्षमय हो गया था। इस संघर्ष और कशमकश में पाँच अङ्कों के लम्बे कथोपकथन वाले नाटकों का समर्थन नहीं किया जा सकता है। इसलिए थोड़े अङ्कों एवं

थोड़े दृश्यों की योजना ही प्रयोजनीय है। प्रसादजी के कुछ नाटकों में युग का विचार नहीं किया गया है स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, विशाख इत्यादि नाटक बेहद लम्बे हो गए हैं। उनकी परवर्ती रचनाओं में यह दोष कम होता दिखाई पड़ता है। यह दोष प्रसाद जी के रंगमंच के औचित्य के ज्ञान के कारण कम सा दिखाई पड़ता है। अन्तिम कृति 'ध्रुवस्वामिनी' इस दृष्टि से इनकी अन्यतम कृति है। इसमें तीन अंक हैं, और प्रत्येक अङ्क में एक दृश्य। इसके फलस्वरूप नाटक में जो सक्रियता आई वह प्रसाद के सच्चे नाटककार रूप को हमारे सामने उपस्थित कर देता है। हमारा अपना विचार है कि प्रसाद जी यदि कुछ दिन और जी जाते तो एक सर्वगुण-सम्पन्न नाटक अवश्य प्रस्तुत करते जो उन्हें विश्व के अन्य साहित्य के नाटककारों की कोटि में गणना करने योग्य बना देता। रंगमंच की सुविधा और अनुकूलता का जितना विचार 'प्रसाद' ने नाटक में रखा है, उतना किसी अन्य में नहीं। प्रसाद के नाटकों में जो अङ्क एवं दृश्यों का विभाजन हुआ है वह दोष रहित नहीं कहा जा सकता। कितने नाटकों में तो ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रसादजी अङ्क विभाजन एवं दृश्य विधान में एकदम अनभिज्ञ थे। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चार अङ्कों की योजना की गई है। प्रथम अंक में ग्यारह, द्वितीय अंक में दस, तृतीय अंक में नौ और चतुर्थ अंक में चौदह दृश्यों की योजना है। यह व्यावहारिकता एवं नाटकीय औचित्य की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। चतुर्थ अङ्क में तो दृश्यों की न्यूनता अपेक्षित थी पर हम पाते हैं कि उसकी वृद्धि ही होती गई है। चतुर्थ अङ्क में एक और अंक की गुञ्जाइश है। इस प्रकार यदि चन्द्रगुप्त नाटक में पाँच अंक होते तो नाटकीय सौन्दर्य की वृद्धि आपसे आप हो

जाती। 'राज्य श्री' नाटक में इन्होंने अंकों की वृद्धि बेकार की है। 'राज्य श्री' से छोटे नाटक में चार अंकों की न गुंजाइश है और न उससे उसमें कुछ नाटकीय सौन्दर्य का समावेश ही होता है। फिर ऐसा करने पर नाटक में शैथिल्य का दोष आ गया है। 'राज्यश्री' यथार्थ में तीन अंकों का होना चाहिए था।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में दृश्यों की योजना पर्याप्त मात्रा में की है। दृश्यों को समावेश करने में प्रसादजी ने काफी भूलें की हैं। उनके नाटकों में दृश्यों की योजना थोड़ी-थोड़ी एवं छोटी-छोटी बातों की योजना के लिए भी हो गई है। इससे नाटकों में सक्रियता का अभाव हो गया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दृश्यों के प्रयोग में काफी दोष दिखलाई पड़ते हैं! उस नाटक के प्रथम अंक में तीसरे दृश्य की जो योजना की गई है उसकी सूचना काफ़ी थोड़े स्थान में की जा सकती थी। फिर सातवाँ दृश्य जिसमें चाणक्य को बन्दीगृह में दिखलाया गया है, पूर्णतया अनुपयुक्त है। द्वितीय अंक में भी पाँचवें और दसवें दृश्यों की योजना निरर्थक और निस्सार है। 'स्कंदगुप्त' में ऐसे ही कई एक दृश्य हैं जिन्हें निरर्थक और बेकार की संज्ञा दी जा सकती है। प्रसादजी ऐसे महान् कलाकार में ऐसे भद्दे दोष देखकर हमें बहुत दुःख और खेद होता है। जितना वस्तु-तत्व ऊँचा और महान् है, यदि वैसा ही अंकों एवं दृश्यों का समुचित प्रयोग होता तो, यह मेरा विश्वास है कि विश्व साहित्य में उनका नाम गौरव से लिया जाता।

वस्तु विन्यास

कहा जा चुका है कि प्रसाद के नाटकों के कथानक सांस्कृ-

तिक नींव पर खड़े हैं। भारतीय संस्कृति की तीन धाराएँ—आत्म-गौरव, आत्म निषेध तथा विश्वप्रेम—प्रसाद के नाटकों में एक ही पुण्य तीर्थ पर मिल गयी हैं। दाण्ड्यायन, गौतम, मिहरदेव आदि की सृष्टि में ये ही विचारधाराएँ हैं; कामा देवसेना एवं कल्याणी आदि के निर्माण तल में इन्हीं तत्वों का प्रयोग है। प्राचीनता की ओर घूमकर देखने के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियों ने प्रसाद को प्रेरित किया। वर्तमान कर्मसंकुल जीवन में पश्चिमी भौतिक रंगीनी की ओर युग को कदम बढ़ाते देखकर प्रसाद ने भारतीय श्रेष्ठ संस्कृति की ओर इशारा कर जन-जीवन को ज्योतिर्मय बनाने का सफल प्रयत्न किया। दूसरे, द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से ऊबकर प्रतिक्रिया रूप में छायावादी पलायन मनोवृत्ति की मूलभूत भावना से भी प्राचीनता को प्रश्रय मिला। वर्तमान वैषम्यपूर्ण जीवन में विरोधी संस्कृतियों के संघर्ष से सचेत होकर नाटककार ने अचल-आग्रह से अपनी संस्कृति का आँचल पकड़ा। तीसरा कारण था प्रसाद का निजी रोमान्टिसिज्म। अनुरागमूलक मधुर भावनाओं के आलोड़न विलोड़न से कवि ने मागंधी, सुवासिनी, वाजिरा तथा कोमा की मादक सृष्टि की। आनन्द के अन्वेषक को ऐसी सृष्टि में ही संतुष्टि मिली।

प्रसाद ने नाटकों के प्रायः सभी कथानकों का क्षेत्र भारतीय इतिहास के किसी न किसी संधिकाल को ही चुना है। 'नाटकीय द्वन्द्व की सामग्री सन्धियुगों में ही विशेष उपलब्ध होती है। है। 'चन्द्रगुप्त' नन्द और मौर्य की सीमा पर खड़ा है, 'राज्य श्री' का उद्भव गुप्तों के पतन एवं वर्द्धनों के उत्थान के समय में हुआ है, 'स्कन्दगुप्त' में जर्जरित गुप्त साम्राज्य के लड़खड़ाते पैरों की अन्तिम झाँकी है और 'जनमेजय का नागयज्ञ' के प्रणयन में

पांडवों के विनाश एवं नागों के संघर्ष काल की आत्मा छिपी बैठी है।

कलाकार की सफलता वस्तुतत्व को एक कुशल क्रमिक विकास देने में है। प्रसाद ने अपनी ऐतिहासिक कथावस्तुओं को—जिनका चुनाव बहुत परिश्रम से हुआ है—जिस प्रकार बढ़ाया है वह अभिनन्दनीय है। कुछ एक नाटकों को छोड़कर अन्य नाटकों में इन्होंने काफी सफलता प्राप्त की है। कथानक प्रायः मिश्र रहते हैं—एक कथा के साथ कई कथाएँ फूटती हैं जो आगे क्रमशः परस्पर उलझती हुई अजस्र रूप से चरम परिणति (climax) की ओर जाती हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' का आख्यान नायिका की बन्दी परिस्थिति से आरम्भ होता है, रामगुप्त की घृणित कथा उसका सहायक बनती है। इसी से शकराज की कथा उलझ जाती है। दूसरे अंक के अन्त तक दोनों की गाँठें कस जाती हैं, फिर अन्त में शकराज की मृत्यु द्वारा गाँठ के खुलने से नाटक का अवसान मोक्ष की आज्ञा देकर हो जाता है।

प्राचीन नाट्यशास्त्रियों के नियमानुसार बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य आदि को अस्वीकार करते हुए भी प्रसाद के नाटकों में कथानकों के आरम्भ, विकास, चरम सीमा और अवसान स्पष्ट दीखते हैं। वाह्य एवं अन्तर्द्वन्द्व के सन्तुलित सम्मिश्रण से नाटक का कथानक शृङ्खलित है। आरम्भ से ही पाठकों को घटनाओं से एक प्रकार का मोह हो जाता है जिसके फलस्वरूप अन्त तक जिज्ञासा ज्यों की त्यों बनी रहती है। नाटक का रहस्य यदि आदि में ही पाठक या दर्शक समझ जायें

तो अभिनयादि में उसकी रुचि नहीं होगी।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि शकराज के बध से चरम संक्रांति का अन्त हो जाता है। उसी के कारण ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त में रामगुप्त के चरित्र से अधिक सबलता आ जाती है। राज्य-प्राप्ति का प्रश्न हल हो जाता है। लेकिन सभी शंकाएँ शान्त नहीं हो पातीं। मोक्ष की भावना भारतीय दृष्टिकोण से प्रेमी-प्रेमिका का विषय न होकर धर्म का विषय हो जाता है। पुरोहित की तर्कना हम उत्सुक होकर सुनते हैं। अनुकूल निर्णय होने पर चन्द्रगुप्त एवं 'ध्रुवस्वामिनी' के हार्दिक आह्लाद के साथ हम भी लोट-पोट हो ज़ाते हैं। अस्तु,

कथावस्तु की दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी एवं चन्द्रगुप्त का पुनर्विवाह मुख्य आख्यान है; हिजड़ों एवं बौनों का प्रसङ्ग अनुकूल है। (इनके द्वारा ध्रुवस्वामिनी के हृदय की रामगुप्त विषयक घृणा तीव्र होती है और शकशिविर में छद्मवेश में जाने की प्रेरणा यहीं से मिलती है) कोमा एवं शकराज की कहानी प्रतिकूल है। कथानक के क्रमिक विकास द्वारा परिस्थितियों के चंगुल में पड़कर प्रतिकूल कहानी भी मुख्य सिद्धि की सहायिका बन जाती है। शकराज की मृत्यु से राजशक्ति ध्रुवस्वामिनी के हाथ आ जाती है, धर्म की आज्ञा से सामाजिक शक्ति भी उसे मिलती है और तब विधिपूर्वक चन्द्रगुप्त का वरण कर वह सुखी होती है। इस प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक की गति अति वेग है। पात्रों की भावनाओं में अन्तर्द्वन्द्व की शक्ति ने कला को और परिमार्जित कर दिया है।

[1] 'Keep your secret to the end, the audience will turn their faces to the door and their backs to the stage when there is no more to learn—Lopedevega.'

भाव-विन्यास

(क) रसों का परिपाक—

'प्रसाद' के नाटकों पर सामूहिक रूप से विचार करने पर, दो रसों की प्रधानता इसमें दिखाई पड़ती है। वे क्रमशः वीर और शृंगार रस हैं। इनके अधिकांश नाटकों में वीर रस की प्रधानता है। 'स्कन्दगुप्त' में वीर रस का प्रस्फुटीकरण बड़ा ही सुन्दर जान पड़ा है। युद्ध वीरता एवं दान-वीरता का जितना सुन्दर समावेश इनके 'स्कन्दगुप्त' नाटक में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं हो सका है। पर अल्प देवसेना के कथोपकथन नाटक का अवसान देने के कारण वीर रस में बाधा पहुँचती है। इसमें वीर रस के उपरान्त शृङ्गार रस का भी अंश घुसा हुआ है। "चन्द्रगुप्त' नाटक में तो सवत्र युद्धों के ही दृश्य हैं—पलपल में खड्ग म्यान से बाहर ही निकलना चाहता है। नाटक भर में सभी कार्य-व्यापार युद्ध के स्वरूप से ही सम्बद्ध हैं। पर इस वीर रस की धारा के साथ फिर शृङ्गार की स्रोतस्विनी तो अपना मार्ग बनाती चली जाती है। अलका और सिंहरण, सुवासिनी और राक्षस एवं चाणक्य तथा कल्याणी, इत्यादि के प्रेम के चटकीले रङ्ग से नाटक भरा पड़ा है। पर प्रेम के चित्रण में प्रसाद सीमा के अन्दर ही रहे हैं। भारतीय परम्परा की मर्यादा की रक्षा उन्होंने पूर्णरूप से की है। 'ध्रुवस्वामिनी' में वीर रस और शृङ्गार दोनों रसों की धारा से ही प्रधान है और उससे नाटक के अन्त में हर्ष का संचार होता है।

चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रेम में उच्छृङ्खलता नहीं, वरन् भारतीय नारी के मर्यादापूर्ण प्रेम का दिग्दर्शन और चित्रण है जो आदर्श है। भारतीयता की दृष्टि से सबके समक्ष

ध्रुवस्वामिनी का भावावेश में चन्द्रगुप्त का आलिंगन करना शायद दोष कहा जावे, पर विक्षिप्त परिस्थिति में स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए वह दोष नहीं माना जायगा।

इन दोनों रसों के अतिरिक्त नाटक में शांत, हास्य एवं बीभत्स रसों का भी समावेश यत्र-तत्र हुआ है। शांत रसों का मूर्त्तिमान रूप तो चाणक्य ही है। उसके चरित्र में गंभीरता, विचार गहनता इत्यादि का सुन्दर समावेश है। 'अजातशत्रु' में भी वासवी और बिंबसार के चरित्र में शांत रस की धारा अपनी मंथर गति से प्रवाहित होती है। वीभत्स का आभास 'स्कन्दगुप्त' में मिलता है। हूणों का अत्याचार एवं कापालिकों के व्यापारों में इस रस का समावेश है। 'जनमेजय के नाग यज्ञ' में जिस समय जनमेजय नागों को यज्ञ कुंड में डालता जाता है, वह भयानक और वीभत्स रस का सुन्दर उदाहरण है।

अब एक जो रस शेष रहा वह है हास्यरस। नाटकों एवं अन्य जगहों में भी हास्य की बड़ी ही आवश्यकता होती है नाटकों में जितनी आवश्यकता गीतों की होती है उतनी ही हास्य की। हास्य के प्रयोग में प्रसादजी भारतीय परम्परा के अधिक निकट रहे हैं। कुछ एक नाटकों में हास्य का प्रयोग हुआ है पर वह भी गम्भीरता के साथ। जिस प्रकार प्राचीन नाटकों में विदूषकों की योजना की जाती थी उसी प्रकार इनके नाटकों में भी मुद्गल, वसंतक आदि पात्र आए हैं जिनके हास्यजनित कथोपकथन नाटकीय हैं और साथ ही साथ कथावस्तु के विकास में सहायता देते हैं। इस प्रकार 'प्रसाद' के हास्य भी अपनी गम्भीरता के साथ ही अवतरित हुए हैं।

(ख) चरित्र-चित्रण

प्रसादजी के नाटकों के चरित्र-चित्रण को ध्यानपूर्वक देखने

से यह प्रतीत होगा कि उनके नाटकों के नायक प्राय: राजा ही हैं। इस कथन के अपवाद-स्वरूप 'विशाख' और 'एकघूँट' है। जो नाटक नायिका प्रधान है, उसमें भी नायिका का चुनाव राज-घरानों से ही किया गया है। राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी तो राजमहिषियाँ ही हैं। जहाँ नायक पुरुष पात्र हैं वे भी इतिहास प्रसिद्ध सम्राट् ही हैं जैसे, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि। नायकों के चुनाव में प्रसादजी ने भारतीय परम्परा का अनुकरण किया है। चाहे नाटक नायक प्रधान हो चाहे नायिका प्रधान, पर सर्वत्र नायक या नायिका अनेक गुणों से सम्पन्न होते हैं, नायकों को आदर्श-चरित्र देनेकी परम्परा भारतीय नाट्यशास्त्र में ही वर्त्तमान है। आजकल तो पश्चिम की ही हवा बह गई है जिससे आजकल के नाटक पश्चिम के रङ्ग में रँग गए हैं और भारतीय रङ्ग की छाप धीरे-धीरे घुल गई है। अब एक रङ्ग में रङ्ग गए तो दूसरे रङ्ग का असर कैसे पड़ सकता है, फलस्वरूप प्रसाद के परवर्ती नाटककारों पर पश्चिमी रङ्ग की छाप पूर्वी रङ्ग की अपेक्षा अधिक होती जा रही है, प्रसाद जी के नायक एक आदर्श सम्मित हैं। प्रसादजी ने अपने प्रतिपक्षी दल के नायकों के चरित्र को दोषमय दिखलाते हुए गुणों का भी समावेश कर दिया है। मयर्क, काश्यप, तक्षक, पर्वतेश्वरादि में दोषों के साथ गुणों का भी समावेश किया गया है।

पुरुष पात्र

'प्रसाद' के पुरुष पात्रों को सामूहिक दृष्टि से देखने से निम्नलिखित कोटियों में उन्हें रख सकते हैं:—

(१) ऐसे पात्र जो मनुष्यता की सतह से ऊपर उठ जाते हैं,

(२) ऐसे पात्र जो हृदय की दो प्रवृत्तियों के अंतर्द्वन्द्व में फँसे रहने के कारण बाहर कुछ, और भीतर कुछ प्रकट होते हैं।

(३) कुछ ऐसे पात्र हैं जो सदा धीर और शांत रहते हैं।

बिंबसार और वासवी का चरित प्रथम कोटि के अन्तर्गत आयगा। द्वितीय कोटि के पात्रों के अन्तर्गत रामगुप्त, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि पात्र हैं। तीसरी कोटि के अन्तगत चाणक्य का स्थान है। चाणक्य की बुद्धि इतनी तीव्र है कि वह राज-नीतिक चालों को बहुत ही शांत और गम्भीर रूप से सोचता है। एक चौथे तरह के पात्र हैं जिनमें राक्षस प्रवृत्ति ही देव प्रवृत्ति से अधिक बलवान् है। ऐसे पात्रों में भटार्क, तक्षक और शिखर स्वामी इत्यादि हैं।

स्त्री पात्र

स्त्री पात्रों की विवेचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने स्त्रियों के चरित्र के विविध रूपों का चित्रण किया है। उन्होंने अपने स्त्री पात्रों को भावुकता, त्याग, सेवा एवं आत्मसम्मान का प्रतीक बनाया है। देवसेना और कल्याणी के चरित्र में इन गुणों का समावेश हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे स्त्री पात्रों द्वारा प्रसादजी ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि नारी का जीवन सच्चे प्रेम पर ही अवलम्बित है। उसके अभाव में नारी जीवन अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है और वहीं उसकी मृत्यु है[1]। प्रसादजी ने प्रेम के आदर्श को स्वार्थ या वासना से निर्लिप्त दिखलाया है। इसके अतिरिक्त 'प्रसाद' ने यह भी दिखलाने की चेष्टा की है कि नारी पुरुषों से किसी भाँति कम नहीं। उनके अनुसार नारियाँ यदि प्रेम के वासन्ती

[1]देखिए आरंभिक परिच्छेद का 'प्रेमतत्व'।

कुजों में हृदय के साथ खेलती है, तो जीवन के प्रज्ज्वलित समर-स्थल में तलवारों के साथ भी। वे राजनीति के कँटीले क्षेत्र में भी अपने पैर उतनी सतर्कता से रखती हैं जितने कि पुरुष पात्र। वे आवश्यकता पड़ने पर गायिका भी बन सकतीं और जादूगरनी भी। नारी की इस कार्यशीलता के चित्रण में प्रसादजी बंकिमचन्द्र से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं।

स्त्री पात्रों की महत्ता का जहाँ दर्शन कराया है वहाँ ऐसी स्त्रियों का चित्रण भी किया है जिनके चरित्र दुष्ट प्रकृति के हैं जैसे शक्तिमती, छलना, सुरमा, अनन्तदेवी और विजया इत्यादि कुछ ऐसे स्त्री-पात्र भी हैं जो भारतीय पत्नीत्व के रूप को सुन्दर रूप से निबाहने के कारण सुन्दर लगती हैं जैसे वपुष्टमा कोमा और चन्द्रलेखा का चरित्र।

शैली

(क) सवाद—साहित्य की अन्य कृतियों में भाव प्रकाशन के सामान अनेकानेक हो सकते हैं, पर नाटक में तो एकमात्र माध्यम सम्वाद है। इसलिए सम्वाद की महत्ता नाटकों में अधिक है। सम्वादों के कुशल प्रयोग पर ही नाटक एवं नाटककार की सफलता निर्भर करती है। सम्वादों के शिथिल होने से भाव-विन्यास में शिथिलता आ जाती है। नाटक में सम्वादों के दो प्रयोजन होते हैं। प्रथम तो सम्वाद का काम परिस्थिति से परिचय कराना है, तथा दूसरा कार्य कथावस्तु को बढ़ाना है। इस प्रकार सम्वादों में इतनी शक्ति का होना आवश्यक है जिससे उभयपक्ष के कार्यों का संकेत सफलता से हो सके। इसीलिए सम्बाद के वाक्यों एवं शब्दांशों में समाहार शक्ति

का होना अनिवार्य है अन्यथा वे इतनी महती बोझ को सम्हालने में सर्वथा असमर्थ रहेंगे।

प्रसाद के नाटकों में जहाँ सम्वादों का कुशल प्रयोग है तो वहाँ दोष भी अनेकानेक हैं। इसलिये उनके नाटकों में दोष और गुण दोनों का समन्वय है। यह बात एक पहेली सी मालूम पड़ती है पर बात यह है कि 'प्रसादजी' के सम्वादों में जो दोष हैं वे दो कारणों से उद्भूत हैं। इनके पात्रों में धैर्य का अभाव सा मालूम पड़ता है। जहाँ जितनी बात कहना आवश्यक है, उसका वे ध्यान न देकर अपने सारे भाव एक मुँह से कह डालते हैं। मालूम पड़ता है जैसे इनके पात्रों के पेट में बात पचती ही न हो। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य अपनी आत्मकथा एक साँस में कह डालना चाहता है। 'स्कंदगुप्त' में भी मातृगुप्त जब अपने निवास-स्थान का परिचय देता है तो ऐसा प्रतीत होता है। मानों वह काश्मीर की शोभा का वर्णन ही एक कथा में कर देगा। इससे कथोपकथन अनावश्यक लम्बे हो जाते हैं जिससे सम्वाद अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं। उनकी गतिशीलता एवं सक्रियता दोनों जाती रहती हैं। दूसरा कारण जिससे संवादों में दोष आ गया है वह है 'प्रसाद' की भावुकता और कवित्व। 'प्रसाद' जी का कवि हृदय सदा मचलता रहता है। उनके पात्र अपनी भावनाओं को सीधे-सादे शब्दों में कहेंगे ही नहीं, रूपक और उपमाओं के बीच सजाकर सदा प्रस्तुत करेंगे और इस प्रकार उसमें कविता का प्राण समाविष्ट हो जाता है।

कवित्व का एक उदाहरण 'स्कन्दगुप्त' से प्रस्तुत किया जा सकता है प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व वीणा में

शीघ्र नहीं मिलता। पाण्डित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुरा बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चह-चह' 'कल-कल' 'छल-छल' में, काकली में, रागिनी है।" कहीं-कहीं तो सम्वाद एकदम गद्य की जमीन छोड़कर पद्य के विमान पर उड़ने लगता है। ऐसे उदाहरण थोड़े हैं। आधुनिक आलोचकों द्वारा सम्वादों का काव्य गुणालंकृत होना प्रसाद के नाटकों का एक विशिष्ट गुण ही माना जाता है। इनके नाटक दृश्य काव्य की अपेक्षा अन्य काव्य के अति निकट हैं—अभिनीत नहीं होने के कारण ये केवल पाठ्य हैं। अँगरेजी के महान कवि शेक्सपियर के नाटकों के काव्यमय सम्वाद पर कोई मैंगली नहीं उठाता। उस दृष्टिकोण से देखने पर गद्य में भी कविता की प्रचुरता प्रशंसनीय ही कही जायगी। अधिकांश स्थानों पर सम्वाद परिस्थिति के एकदम उपयुक्त है। जहाँ युद्ध एवं क्रोधादि प्रकट करने वाले सम्वाद अत्यन्त आवेश और उत्कर्ष से भरे हैं। वहाँ पात्रों के प्रत्येक शब्द में हृदय को आलोकित कर देने की शक्ति रहती है 'स्कन्दगुप्त' में कुमार के रणक्षेत्र के समय जो कथन हैं वे ओज एवं दर्पपूर्ण हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में जब ध्रुव देवी को रामगुप्त शकराज के यहाँ जाने को विवश करती है तब जो ओजपूर्ण उद्गार ध्रुवस्वामिनी के मुख से निकले हैं वे परिस्थिति के पूर्ण अनुकूल हैं। जहाँ प्रेम प्रलाप चलता है वहाँ के सम्वाद में जो कोमलता और कमनीयता का समावेश रहता है, वह भावुक-हृदय को बरबस मुग्ध कर लेता है।

उस समय के सम्वादों में प्रेम एवं यौवन का जो चटकीला रंग मिलता है, वह 'प्रसाद' की तूलिका की विशेष विभूति है।

(ख) स्वगत की योजना

मानव जीवन ही अन्तर्द्वंद्वमय है। उसके हृदय में दो भावनाएँ सदा आपस में द्वन्द्व करती रहती हैं। एक प्रकार की भावनाएँ उसे उचित पथ पर ले जाती हैं और दूसरी भावनाएँ अनुचित एवं कुपथ पर ले जाती हैं। श्रेय और प्रेय का यह संघर्ष सदा से चलता आया है। जब मनुष्य इन दो भावनाओं के भँवर में पड़ जाता है और जब वह तीर के निकट पहुँचने में अपने को असमर्थ पाता है तब थोड़ी देर विश्राम कर सोचने लगता है और स्वगत के द्वारा अपने ही को यथाशक्ति समझाने की चेष्टा करता है। सांसारिक मनुष्य का अन्तर्द्वन्द्वमय जीवन द्विविध-मनोवृत्त्यात्मक क्षणों का रंचमंच है, उसके परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप में कभी-कभी अन्तर भी दीख पड़ता है। इसी कारण 'स्वगत' नाटकीय पात्रों के व्यक्तिगत जीवन में वही सहायता पहुँचाता है, जो रंगमंच पर नेपथ्य। नाटककार 'स्वगत' की योजना कर मानव-हृदय के अन्तर की झाँकी प्रस्तुत करता है। पर 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की भावना के अनुसार 'स्वगत' की लम्बी-लम्बी योजना भी नाटक की रोचकता का ह्रास कर देती है। पात्र लम्बे-लम्बे कथन करते चले जा रहे हैं, फिर वे इतने उच्च स्वर से उच्चरित हो रहे हैं कि दर्शक सुन लें, फिर भी उसे 'स्वगत' की संज्ञा देकर यह कहना कि रंगमंच पर खड़े पात्र नहीं सुनते, यह असंगत प्रतीत होता है। 'प्रसाद जी' ने 'विशाख' में महापिंगल के द्वारा स्वगत भाषण की अनुपयुक्तता पर प्रकाश डाला है। "नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक-समाज का रंगमंच सुन लेता है पर पास का खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुन सकता,

उनको भरत बाबा की कसम है;....।"[1] फिर भी उनके नाटकों में यह दोष पाया जाता है। छोटे-छोटे स्वगत की योजना तो क्षम्य है पर बड़े-बड़े और दीर्घकाय स्वगत उपहासास्पद प्रतीत होते हैं। ऐसे उदाहरण उनके प्रत्येक नाटक में मिलते हैं। कहीं कहीं तो उनके पात्र 'स्वगत' करने के निमित्त ही रंगमंच पर आते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि नाटक में उनका काम 'स्वगत' भाषण करना ही है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य का कथन 'स्वगत' के द्वारा ही किया गया है। स्कन्दगुप्त में भी ऐसे ऐसे स्वगत की योजना है। उदाहरण स्वरूप पंचम प्रकरण (पृ० १४९) में देवसेना के मुख से सुनते हैं—संगीत सभा की 'अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन खाम, धूपदान की एक क्षीण गंध धूमरेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी जीवन? मेरा प्रियगान अब क्यों गाऊँ और क्यों सुनाऊँ? उनकी अन्तिम कृति 'ध्रुवस्वामिनी' में भी ऐसे स्वगत की योजना है। उसमें तो मन्दाकिनी स्वगत गाती भी है। परन्तु और नाटकों की तरह इसमें दोषों की बहुलता नहीं है।

(ग) गीतों की कड़ियाँ

मानसिक द्वन्द्वों से ऊबकर मनुष्य मन बहलाव के लिये कुछ गुनगुनाने लगता है। वही गुनगुन जब गीत की कड़ियों में पिरो दिए जाते हैं तो फिर उसमें वेदना की गहरी टीस, और उल्लास का मादक रंग मिलने लगता है। गीत मानव के लिए एक विश्राम-स्थल है। जीवन-यात्रा के शुष्क मरुप्रदेश में थककर,

[1] विशाख (चतुर्थ सं०) पृ० २२

मनुष्य, किसी न किसी क्षण कुछ गुनगुनाना चाहेगा ही। प्रसादजी नाटककार के पहले एक कवि हैं। अतः उनके काव्य में एक गहरी और पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। प्रसादजी ने अपनी कल्पना के पंख के सहारे अतीत के प्रस्तर खण्डों को एकत्रित कर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है। गीतों के प्रयोग में प्रसादजी तत्कालीन पारसी नाटकों के द्वारा अवश्य ही प्रभावित हुए हैं। 'चन्द्रगुप्त' में एक ही दृश्य में तीन गीतों का समावेश है जो नाटकीय दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं। गीतों का आधिक्य उनके नाटकों में स्त्री पात्रों की अधिकता से है। नारी का जीवन उन फूलों के समान है, जो थोड़ी देर तक खिलकर फिर एक सौरभ छोड़ जाते हैं। उनके जीवन में भावुकता प्रकर्ष पर है। अतः 'प्रसाद' के गीतों पर सामूहिक रूप से विचार करते हुए यह कहना पड़ता है कि उनके कुछ गीत नाटकीय हैं, कुछ बेहद लम्बे हो गये हैं।

भावनाओं की तन्मयता में जब हर्ष विषाद से पात्रों की सारी स्थूल प्रक्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं तब उन सूक्ष्म भावों को आकार देने के लिए मधुर गीत ही साधन रहते हैं। भारत के अणु-अणु में सङ्गीत एवं दर्शन बिखरा पड़ा है। नाटक में गीत तिव्य काव्य एवं सङ्गीत का एकत्रीकरण रहता है, इसीलिए नाटकों से गीतों को वहिष्कृत करने से एक आवश्यक तत्त्व का ही बहिष्कार हो जाता है। प्रसाद के अधिकांश पात्रों में भावुकता एवं कोमल भावनायें इतने प्रकर्ष पर हैं कि हृदय का मुलायम तंतु सदा झंकृत ही होता रहता है। गान उनके जीवन का एक अङ्ग, एक सम्बल, हो गया है। इन गीतों के अभाव में हम उनका हृदय ही खो बैठेंगे। भला इन गीतों की अनुपस्थिति

कल्याणी के करुण परिणय की, मंदाकिनी की टीस को, चन्द्रलेखा की लगन को कैसे समझा जा सकता है ?

प्रसाद के गीतों में मुख्यतः दो रसों की धारायें मिलती हैं—वीर तथा शृङ्गार। प्रधान रस तो शृङ्गार ही है, पर अधिकांश स्थलों पर वीर रस के बोझ से शृङ्गार दब जाता है। ऐसे स्थल उद्‌बोधन गीत आदि हैं। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रस्थान करने के अवसर पर सामन्त कुमारी का नेतृत्व करती हुई मन्दाकिनी का यह गीत कितना उत्तेजक है—

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कछारों के नीचे शत शत झरने बेमेल चले
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे
तब भी गिरि पथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले।
पृथ्वी की आँखों में बनकर छाया का पुतला बढ़ता हो
सूने तन में ही ज्योति बना अपनी प्रतिभा को गढ़ता हो
पीड़ा की धूल उड़ाता-सा बाधाओं को ठुकराता-सा
कष्टों पर कुछ मुसक्याता-सा ऊँचे ऊपर सब झेल चले।
खिलते हों क्षत के फूल जहाँ बन व्यथा तमिस्रा के तारे
पद-पद पर ताण्डव नर्तन हो स्वर सप्तक होवें लय सारे
भैरव रव से हो व्याप्त दिशा, हो काँप रही भय चकित निशा
हो स्वेद धार बहती कपिशा ऊपर ऊँचे सब झेल चले।
विचलित हों अचल न मौन रहे, निष्ठुर शृंगार उतरता हो
क्रन्दन कंपन न पुकार बने तनिक साहस पर निर्भरता हो
अपनी ज्वाला को आप पिए नव नील कंठ की छाप लिए
विश्राम शांति को शाप दिए, उठकर ऊँचे सब झेल चले।

[जो धुन के मतवाले हैं, उनकी आँखों में नींद कहाँ; पैर के छालों को देखकर उन्हें गति की तृष्णा और भी बलवती हो

जाती है। शिखर तक पहुँचने की कामना रखने वाला पथिक पथ की बाधाओं से नहीं घबड़ाता। प्रकृति का भयंकर अट्टहास हो, बादलों की गुरु गर्जना पदतल में ही गूँजती हो, बिजली की कौंध (वज्र प्रहार) से दिशायें मानों टूटती हों, संकीर्ण मार्गों से चलना पड़े जहाँ झरनों की शतधा द्रुतगति से प्रवाहित हो रही हो—वहाँ भी लक्ष्य सिद्धि के साधक को विचलित नहीं होना पड़ता। झंझवातों ने जी तोड़कर उसे मोड़ना चाहा, कुहासे एवं तमिस्र ने भविष्य की मञ्जिल को धुँधला बना दिया, पथाघातों ने जर्जरित कर दिया—सारा विश्व उसकी परीक्षा लेने के लिए कटिबद्ध है। पीड़ायें वह सहता है, बाधाओं को पददलित करता है—वेदना की गहराई में मुस्करा देता है—आगे का मार्ग मुस्कान की चाँदनी में चमक उठता है। काली अँधियारी रजनी में कोई पथप्रदर्शक नहीं, बला से; वह अपना मार्ग स्वयं बनायेगा—कण्टकाकीर्ण पथ के राही का शरीर लहूलुहान हो गया है, हो जाय; वे खून के धब्बे ही रक्तिम तारे बनकर, चमककर उसका पथप्रर्शन करेंगे। प्रकृति के ताण्डव नृत्य को वह आँखें फाड़कर देखेगा, भयङ्कर अट्टहास को कान खोलकर सुनेगा, थक जायगा, पर हिम्मत नहीं हार सकता। उसे दूर जाना है, वह क्या इन साधारण सम्वादों से रुक जाय? क्या भय से काँपकर वह चीत्कार कर उठे, बाधाओं के सामने नतमस्तक हो करबद्ध प्रार्थना करे कि उसके पथ को सुगम बना दो ??? नहीं। अपनी ज्वाला को, शिव के गरल को, वह स्वंयं पी जायगा। कर्मपथ का बटोही विश्रान्ति क्या जाने? कठिन सूत्रों में कहाँ इतनी शक्ति है कि वे इसे विचलित कर दे। वह यदि चाहे तो पानी में आग लगा दें।]

इस गीत पर पारसी कम्पनियों का प्रभाव है। यदि यह

और छोटा कर दिया जाता तो रङ्गमञ्च के लिये अधिक उपयुक्त होता। लेकिन प्रसाद के नाटकों में वीर रस की प्रधानता रहने के कारण पाठक एवं दर्शक का ध्यान ऐसे स्थलों के लिए सदा उत्सुक रहता है। नाटक के दार्शनिक एवं गम्भीर चिन्तन के बीच-बीच ऐसे स्थलों में, दर्शकों को दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् एक सुन्दर विश्रांति मिल जाती है। जहाँ वह अपने थके अव्यवों को समेटने के लिए रुक जाता है। इसीलिए जाते समय यह ध्यान ही नहीं रहता कि ये कब आरम्भ हुए और कब समाप्त हो गये।

प्रसाद के गीत परिस्थितियों से ही सम्बन्धित रहते हैं। रामगुप्त के कुचक्रों को देखकर मन्दाकिनी के हृदय में—प्रशांत सागर से विश्राम मस्तिष्क में—टीस की एक आँधी आ जाती है। उसके सामने नारीत्व का नग्न रूप नाच रहा है, नारी जाति का अपमान हो रहा है—वह इसे नहीं सह सकती। कदापि नहीं। दुखिया नारी 'न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना' चाहती है। रामगुप्त के आचरण से क्षुब्ध होकर, ध्रुवस्वामिनी की वेदना को आँकने वाली इस दुर्बल नारी के लिये और क्या होता ?—उनकी आँखें बरबस भर आती हैं। आँसू को सम्बन्धित उसकी मूर्त्तिमयी भावनायें देखिए—

"यह कसक अरे आँसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने-कोने अपनी नीरव गाथा कह जा।
करुणा बन दुखिया वसुधा पर शीतलता फैलाता बह जा।"

[हृदय के बाष्पों से अनुरोध है कि वे परिस्थिति के थपेड़े को बर्दाश्त कर लें। नारी का अस्तित्व आज खतरे में है; कहीं ऐसा न हो कि वेदना की अतिशयता में आँसू उच्छृङ्खल हो पलकों

की परिधि से बाहर उछल कर मन्दा के अभिमानी हृदय पर ठेस लगा दें। कष्टों को धीरता से सह लेना तो उसके जीवन का एक अंग ही बन गया है—वह घबड़ाये क्यों। वह तो अपनी टीस को अन्तर में ही छिपाकर विश्व को नारी के अव्यक्त प्रेम की महिमा बतलाना चाहती है। अपनी ज्वाला को स्वयं ही पीकर विश्व को वरदान देना उसका कर्त्तव्य है—आँखों में पानी भरकर वह सृष्टि के लिए ममत्व का अमृत-सागर निर्माण करती है।

दुखिया संसार के सामने व्यक्तिगत कष्ट को क्यों कहा जाय—जो स्वयं ऊँचा है उसकी आँखें कुरेदने से क्या फायदा! इससे उसके कष्ट में वृद्धि ही होगी। नहीं, कल्याणी-नारी के आँसू व्यर्थ ही नष्ट नहीं होंगे—वे उसके जीवन के सार तत्वों से बने हैं, उनका सुन्दरतम उपयोग करना होगा। वह ससार के दुखी जनों पर करुणा के शीतल जलकणों के छींटे देकर उन्हें शांति प्रदान करने का प्रयास करेगी।]

'सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूने जीवन में,
बरसो प्रभात हिमकण-सा, आँसू इस विश्व सदन में।"

'आँसू'

इन पंक्तियों में दैन्य नहीं, आत्म-विश्वास है। नारी की कोमल काया ने अपने आँसुओं का मूल्याङ्कन किया है। व्यक्ति के कष्ट का यहाँ विश्व के मङ्गलहित बलिदान किया गया है। परिस्थिति के अनुकूल बनने की अपेक्षा परिस्थिति को विजित करने की आकुल आकांक्षा है। मन्दाकिनी जीवन की शांति के प्रति जागरूक है।

कवि ने जीवन को अतिनिकट से देखकर उसे प्यार किया

है। इस जीवन में यौवन का स्वप्न मृगनाभि में अन्तर्हित कस्तूरी की तरह भर गया है। इस यौवन के स्वप्न-मन्दिर में नव यौवना नारी की कमनीय मूर्त्ति की प्रतिष्ठा है। यौवन के कुञ्ज में कामनायें रुकने लगती हैं—सारा विश्व इस वेश में झूम उठता है। प्रकृति मस्ती में विभोर हो अँगड़ाई लेने लगती है। शकराज ने रूप की हाट में ध्रुवस्वामिनी के साथ राजनैतिक सौदा किया है। कामना के कुञ्ज में ध्रुवदेवी की प्रतीक्षा हो रही है—उधर शोख साकी बनकर सन्ध्या अपनी सुराही से तृषितों की प्यालियाँ भर रही है—

"अस्ताचल पर युवती संध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा सी धारा अब बहने लगी निराली है।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का हृदय मृदु प्रणय रोष भरा,
वे हँसती हुई दुलार भरी मधुलहर उठाने वाली हैं।
भरने निकले हैं प्यार भरे जोड़े कुंजों की झुरमुट से।
इस मधुर अँधेरी, में अब तक क्या इनकी,प्याली खाली है?
भर उठो प्यालियाँ, सुमनो ने सौरभ मकरंद मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग भरे अधरों से उन्हें लगा ली है।
वसुधा मदमाती हुई उधर आकाश लगा देखो झुकने
सब झूम रहे अपने सुख में तूने क्यों बाधा डाली है?"

[सूर्यास्त के बाद का पश्चिम क्षितिज !—क्रमशः कालिमा का विस्तार होने लगता है; सन्ध्या सुन्दरी के केश बिखरने लगते हैं। इधर चराचर विश्व (वन, बाग, सरिता, पर्वत—सभी) एक स्वर्णिम आलोक में प्रदीप्त हो उठते हैं। सर्वत्र मानों सांध्य-युवती की तरुणाई की लालिमा फैल गयी है। झीलों ने अपने

कटोरों में आसव भर लिया है। वह देखो, वृक्षों ने लताओं से परिरम्भन आरम्भ कर दिया। प्रकृति की इस कोमल भावना में मानिनियों का मान घट जाता है—हृदय में नवीन उत्साह लिये। होठों में मादक हँसी रोके वे भी 'किसी को' प्रतीक्षा में बैठ जाती हैं। पक्षियों ने कलरव से, कलियों को अपना कपाट खोलकर मधु लुटाने का 'सिग्नल' दिया। प्यालियाँ भर चुकी हैं, प्रेम का प्याला लबालब है—जिसे मन चाहे इस पेया का पान कर ले। सारा विश्व एक ही सम पर नाच रहा है। कालिमा के झीने परदे की ओट में आकाश नीचे झुक रहा है—वसुधा के मद का पान करने! (अन्धकार के कारण पृथ्वी एवं आकाश का पार्थक्य मिट रहा है, दोनों एकाकार हो रहे हैं।)]

[इन पंक्तियों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का सहज सुन्दर संयोग है। मूर्त्तियता और लाक्षणिकता के साथ साथ 'प्रसाद' का निजी वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी यहाँ स्पष्ट ज्ञात होता है। प्रकृति में मानव-सापेक्ष्य भावनायें भर दी गई हैं—उसके व्यापार किसी नायिका के व्यापार से भिन्न नहीं। वह भी चेतन है, सजीव है। प्रकृति और मानवता की यह समभूमि क्या ऐसे गीतों के अभाव में मिल सकती थी ?]

'काव्य स्वतः अध्यात्मिक है। प्रसादजी काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। इनकी दो धारायें हैं—काव्य-धारा और दार्शनिक-धारा। आत्मा के श्रेय और प्रेम अभिन्न अङ्ग हैं। कुछ का विचार है कि श्रेय वस्तु सर्वथा प्रेम नहीं होती। प्रसादजी का कथन है कि काव्य के प्रेम में परोक्षरूप से श्रेय निहित है। श्रेय सत्य में भी एक तरह का सौंदर्य होता है, और वह सौंदर्य उसका सहज गुण है। बात यह है कि हम सदैव श्रेय के सौंदर्य को देख सकने में समर्थ नहीं, किन्तु हमारे

अन्तःकरण की एक ऐसी अवस्था हो सकती है जिसमें वह श्रेय के मौलिक सौन्दर्य को देखने में समर्थ हो। इसी अवस्था को प्रसादजी काव्य की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। इनके गीतों में कवित्व और दार्शनिकता दोनों ही का सामञ्जस्य है। नाटक में कवित्व का अधिक सम्मिश्रण दोष की सीमा पर भी पहुँच जाता है। प्रसाद के नाटक ऐसे दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में कुल चार ही गीत हैं जिनमें दो बहुत बड़े हैं। लेकिन परिस्थिति विशेष में चुस्ती के साथ सम्बद्ध रहने के कारण ओज एवं भावना की गहराई की वजह से वे सार्थक हो गए हैं। यही कारण है कि नाटकीय दृष्टि से लम्बे होने पर भी वे 'मलिनपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति' के अनुसार सुन्दर ही प्रतीत होते हैं।

नाटकों में रङ्गमंच की अनुकूलता

रँगीले नवाब वाजिदअलीशाह ने एक फ्रांसिसी सलाहकार की राय से फ्रेंच ऑपेरा के ढंग पर नाटक खेलने की आज्ञा दी थी। अमानत की 'इन्दर सभा' ने इसी आज्ञा का पालन किया। बाद में धनोपार्जन के उद्देश्य से ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी, इण्डियन थिएट्रिकल कं०, पारसी जुबली थियेटर आदि अनेकानेक कम्पनियाँ खुल गयीं। प्रसाद ने सैद्धान्तिक रूप से इनके भावनाट्य एवं अश्लील विषय को ठुकराया, लेकिन इनके आरम्भिक नाटकों में उस काजल की रेखाएँ स्पष्ट दीखती हैं। इनके 'सहसा प्रवेश', पद्य में भाषण, अनुप्रासयुत गद्य, साकी और प्याले के साथ नृत्य (ध्रुवस्वामिनी में रूपकात्मक ढंग से रामदुर्ग में नर्त्तकियों का गद्य) पारसी कम्पनियों से ही उधार लिये गये हैं।

प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने कुछ वर्ज्य बातें—मृत्यु, हत्या, स्नान, मैथुनादि—अनभिनीत बतलाई थीं। दर्शकों के मत पर अनिष्ट प्रभाव डालने एवं उनके हृदय को विशेष उद्वेलित करने का भी खटका था। वस्तुतः, प्राचीन नाटकों को काव्य की श्रेणी में उच्च स्थान देने से नाटककार का कर्त्तव्य रस का सुन्दर परिपाक करना था; दर्शक भी जो रस संचय करने आया है—निम्नकोटि की बातें जिन्हें वह प्रतिदिन देखता है, देखना नहीं पसन्द करेगा। उनमें उसे विशेष रसाभास नहीं मिलता है। आधुनिक काल में नाटक संबंधी विचारों में परिवर्तन आ गया है। उन दिनों अनेकानेक दृश्य रंचमञ्च पर दि ाए भी नहीं जा सकते थे। आज के वैज्ञानिक युग ने आकाश पर से कूदना, पंजाब मेल की छत पर युद्ध करना, रेलगाड़ियों की दुर्घटना आदि को चित्रपट में दिखलाना सुगम कर दिया है। तब रंचमंच पर साधारण युद्ध एवं हत्याओं को नहीं दिखलाना हो शायद अस्वाभाविक कहा जायगा। आज का युग रोमांचकारी दृश्यों को देखने का अभ्यस्त हो गया है। ध्रुवस्वामिनी की प्रायः सभी घटनाएँ सफलतापूर्वक रंगमञ्च पर दिखलायी जा सकती हैं।

आलोचकों का विचार है कि आकार की वृहत्तता, भाषा की क्लिष्टता और कल्पना की दुरूहता के कारण प्रसाद के नाटकों का सुन्दर अभिनय नहीं हो सकता। दूसरी ओर युग की प्रवृत्ति प्रसाद के नाटकों को ही उत्सवों में अभिनीत करने के लिए व्याकुल है। 'अजातशत्रु' 'स्कन्दगुप्त' तथा 'चन्द्रगुप्त' को छोड़कर शेष सभी नाटक छोटे हैं और थोड़ी हेर-फेर के बाद सभी खेले जा सकते हैं। अब तो नाटक खेले ही नहीं जाते, नाटकों का स्थान तो सिनेमा ने ले लिया है। नाटक अब केवल श्रव्य काव्य रह गये हैं, सिनेमा वाले उपन्यासों को ही अभिनीत बनाने में

अधिक तत्पर हैं। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटकों को श्रव्य काव्य की श्रेणी में रखकर देखना अधिक उपयुक्त होगा।

प्रसादजी का अपना दृढ़ विचार था कि निम्न कोटि के नाटकों के ढाँचे में ढली कला के उपयुक्त रंगमञ्च का निर्माण करना उपयुक्त नहीं है। (यह विचार पारसी नाटकों की प्रतिक्रिया रूप में था।) इस दृष्टि से साहित्य की प्रवाहिती धारा संकुचित होकर बैठ जायगी। गति के अभाव से साहित्य मुर्दा हो जायगा। जीवन के जिस लक्ष्य की ओर उसकी दौड़ है वह रुक जायगी। रङ्गमञ्च के अनुकूल नाटक लिखना, मूर्खता है। रङ्गमञ्च को ही नाटकों के अनुरूप होना चाहिये। साहित्य तो लक्ष्य है, साध्य है, रङ्गमञ्च उस तक पहुँचने की सीढ़ी है, साधन है। प्रसादजी के विचार देखिए—

'रंगमञ्च के सम्बन्ध में यह एक भारी भ्रम है कि नाटक रङ्गमञ्च के लिए ही लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए ही रंगमञ्च हो, जो व्यवहारिक है। हाँ, रङ्गमञ्च पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। फिर तो पात्र रङ्गमञ्च पर अपना कार्य सुचारु रूप से करेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिन्दी रङ्गमञ्च का अभ्युत्थान सम्भव है।............रङ्गमञ्चों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रङ्गमञ्च होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रङ्गमञ्च का काम है।'[1]

प्रसाद की कला ज्यों-ज्यों विकसित होती गयी त्यों-त्यों

---

[1]काव्य और कला तथा अन्य निबंध, ५०७

नाटकों में अभिनयोपयुक्तता की मात्रा बढ़ने लगी। अनुभूति के चितेरे ने अभिनय की ओर भी काफी ध्यान दिया। 'ध्रुवस्वामिनी' में दृश्यों के पूर्व विस्तृत नाटकीय निर्देशों के मूल में प्रसाद की यही प्रतिभा छिपी है। ध्रुवस्वामिनी के प्रथम अंक, प्रथम दृश्य का निर्देश, द्वितीय अंक के मुख्य दृश्य का रङ्गमञ्च वर्णन तथा तृतीय अंक में शकदुर्ग के भीतर के प्रकोष्ठ का निर्देश—नाटक की दृष्टि से आवश्यक एवं उचित हैं।

प्रसाद के नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का समन्वय

'प्रसादजी' ने जहाँ अतीत के सागर में गोते लगाकर रत्न निकाला है, वहाँ उसे नवीनता की पॉलिश देकर उसे चिरनवीन भी बना दिया है। उनका एक पैर यदि प्राचीन सीमा की पगडंडी पर स्थिर है तो दूसरा नवीन राज-मार्ग पर अग्रसर होने के लिए तत्पर है। इस प्रकार पाश्चात्य और भारतीय पद्धतियों को मिलाकर जो सतरंगी इन्द्रधनुषी आभा खींची है, उसके प्रकाश में आने वाले साहित्यिकों के लिये एक प्रेरणा है, एक स्पंदन है और है एक सुगमपथ।' जब प्रसाद जी 'इन्दु' की कला के द्वारा साहित्य गगन को प्रकाशित कर रहे थे, उस समय बङ्गभाषा का काफी बोलबाला था। बङ्ग साहित्य के नाटककारों में स्वर्गीय डी० एल० राय का स्थान सर्वोच्च है। 'प्रसादजी' ने बङ्ग साहित्य से ही लम्बे लम्बे कथोपकथनों को उधार लिया है। पारसी कम्पनियों के नाटकों से इन्होंने गीत लिए हैं। पाश्चात्य अङ्गरेजी नाटकों का प्रभाव भी उनमें लक्षित है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वमय जीवन की झाँकी उन्होंने जो दर्शाया है वह पाश्चात्य नाटकों की देन

है। उनके पिछले नाटक पूर्णतया पाश्चात्य पद्धति पर ही अवलम्बित हैं। युद्ध इत्यादि का जो चित्रण 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में किया है वह पाश्चात्य प्रवृत्ति की छाप को साफ दिखलाती है। फिर भी प्रसादजी ने भारतीय पद्धति का ध्यान रखा है। नाटकों में पाँच संधियों का विचार पूर्णतया रखा है। फिर वस्तु विन्यास की योजना भी भारतीय पद्धति के अधिक निकट है। नाटकों के चरित्र का विश्लेषण तथा रसों के प्रयोग में भी प्रसादजी ने भारतीय पद्धति का अनुकरण किया है। इस प्रकार दोनों के समन्वय से उनके नाटकों में जो रोचकता आ गई है वह सराहनीय है।

भारतेन्दु ने अपनी समन्वय नाट्य-प्रणाली में प्राचीन नियमों को भी ग्राह्य समझा एवं उसमें सुधार की भी आकांक्षा प्रकट की। फिर भी उनकी विचार बुद्धि का विकाश वाह्य-कारों में ही परिवर्तन लाने में हुआ। प्रसाद ने उसी मार्ग पर चलते हुए पाश्चात्य, तथा भारतीय नियमों के समन्वय में शरीर के साथ-साथ आत्मा को भी देखा। उन्होंने वाह्य और अन्तर, कला की पदार्थनिष्ठता (Objectivity) और अधिकरणनिष्ठा (Subjectivity) दोनों को एक ही पीठिका पर रखते हुए अपनी नवीन एवं स्वतंत्र नाट्य-प्रणाली बनायी। उनके ही शब्दों में देखिए—"युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम खोज में इब्सनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखलाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम विकास कैसे किया जा सकता है यदि हम पश्चिम के ही आज को सब जगह खोजते रहेंगे? और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों के सोचने, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है? अनुकरण

में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमंत्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी जल्दबाजी बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता का ही आकर्षण है, जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किन्तु इतना ही अलम् नहीं। जब हम समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुकरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर ही भविष्य का निर्माण होता है; इसीलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय की भी, देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच संग्रहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर गये को नहीं पाया।"[1]

समस्याएँ

कलाकार की वाणी में युग की वाणी बोलती है। वह युग की अपेक्षा नहीं कर सकता है। आज छायावादी कवियों को भी युग की वाणी को ऊँची करनी पड़ी है। उसी प्रकार 'प्रसाद-

[1] काव्य कला एवं सा० की रूपरेखाएँ पृ० ७४

जी' ने भी अपने नाटकों की कथावस्तु में वर्त्तमान युग की समस्याओं की मोतियों को अतीत इतिहास के रत्नों से मिलाया है। इससे सौन्दर्य वृद्धि ही हुई है, सौन्दर्य का ह्रास नहीं। 'ध्रुवस्वामिनी' में वर्त्तमान नारी समस्या का चित्रण किया गया है। युगों से नारी पुरुषों के हाथों का खिलौना, एक उपहास की वस्तु जो रही है उसके प्रति 'प्रसाद' का भावुक हृदय विद्रोह कर उठा है। और वे नारी की इस दशा पर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठते हैं और यह दिखलाना चाहते हैं कि नारी के जीवन और पुरुष के जीवन में तनिक भी अन्तर नहीं। आज पाश्चात्य देशों की नारियों ने जो करामातें दिखलाई हैं उससे यह साफ सिद्ध हो जाता है कि नारी पुरुषों से किसी भी क्षेत्र में कम नहीं। आज के युद्ध ने इसे और भी स्पष्टतया दिखला दिया है। इसीलिए 'प्रसादजी' ने इस नारी जागरण के युग में यह दिखलाया है कि आज नारी पुरुषों के पंजे में आने वाली नहीं। वह शासित् न होकर साथी बनना चाहती है। उसके हृदय में उष्ण रक्त की धारा है। वह यदि प्रेम की कोयल है तो भयंकर चामुण्डा भी है। उसके एक हाथ में यदि सौन्दर्य का प्याला है तो दूसरे में हलाहल भी। उसके जीवन में इन दोनों की समन्वय एक अपूर्व वस्तु है जो पुरुषों के जीवन में नहीं। नारी जहाँ कुसुम की भाँति कोमल है तो वज्र की भाँति कठोर भी। राष्ट्रीयता का संदेश उन्होंने अपने 'चन्द्रगुप्त' नामक नाटक में दिया है। आर्य्यावर्त्त की रक्षा पहले है, प्रांतीयता के झगड़े का निबटारा पीछे। जब देश पर विदेशी आक्रमण करें तो घरेलू भेद-भाव को भूलकर एक साथ मिलकर शत्रु से लोहा लेना चाहिए। नहीं तो हजार चेष्टा करने पर भी गई स्वतंत्रता हाथ नहीं आती। 'स्कन्दगुप्त' में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

अतः युग धर्म की ललकार पर कदम-कदम बढ़ाते हुए प्रसाद ने अपने 'आज' का भी कलाकार बना दिया है।

प्रसाद के नाटकों में नियतिवादिता एवं अन्य दार्शनिक भावनाएँ

'प्रसादजी' का हृदय यदि कवि है तो मस्तिष्क दार्शनिक। कभी कभी जब हृदय और मस्तिष्क का समन्वय होता है तब उनकी कविता में दर्शन का योग हो जाता है। प्रसादजी एक नियतिवादी कलाकार हैं। उनके काव्य, नाटक एवं उपन्यासों में सर्वत्र नियति की झलक मिलती है। कामायनी में भी उन्होंने यही भावना व्यक्त की है—'कर्म-चक्र-सा घूम रहा है गोलक; बननिर्यात प्रेरणा'। नियति ही सभी कार्यों के होने के मूल में है। 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी कहती है, अदृष्ट ही चन्द्रगुप्त के भाग्य का निबटारा करेगा।' जनमेजय का कथन है—'मनुष्य प्राकृतिक अनुचर और नियति का दास है।' पर नियति पर विश्वास कर मनुष्य को अकर्मण्य न होना चाहिए। जो होना है सो तो होगा ही सत्कर्म सदा करते रहना चाहिए। बिम्बिसार जीवक से कहते हैं—'क्या अदृष्ट सोचकर अकर्मण्य बनकर तुम भी मेरी तरह बैठ जाना चाहते हो?'

जीवक कहता है—'नहीं महाराज, अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्म्मकूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है, जो होना होगा वह होगा ही, फिर कायर क्यों बनूँ,—कर्म्म से क्यों विरक्त रहूँ।

प्रसाद की आशा में भी नैराश्य का समागम हुआ है। लेकिन ज्यों-ज्यों जीवन की गहराई से मानव की गम्भीरता अन्तर में

घुसती जाती है त्यों-त्यों उसी विरक्तियुत शांति द्वारा उसे अपूर्णता में सान्त्वना मिलती है और नियति का ध्यान उसकी ओर से चित्त को हटाता रहता है। साम्राज्य की आशा में विफल-प्रयत्न होकर क्षणभर के लिए स्कन्दगुप्त विक्षिप्त हो उठता है—"चेतना कहती है तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है तू खिलौना है।......मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष—गुप्त साम्राज्य—हरा भरा रहे और कोई भी इतना उपयुक्त रक्षक हो।"[1] स्कन्द की इस उक्ति में जीवन से उदासीनता व्यक्त है। आगे चलकर यही उदासीनता नियति के प्रभाव में सक्रिय बन जाती है—"परन्तु इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्व नियन्ता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ ?"

फिर उनके नाटकों में सुख-दुःख समन्वित भावना भी व्यक्त की गई है। 'प्रसादजी' 'पन्त' की भाँति ही 'चिर-सुख' और 'चिर-दुख' दोनों को ही मानव-जीवन के लिए घातक एवं अनिष्टकारक बतलाते हैं। वे दोनों के सुन्दर सम्मिलन को देखना चाहते हैं। उनका मत है—'मानव-जीवन वेदी पर परिणय हो विरह-मिलन का, दुख-सुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का'। नाटकों में भी यही भावना व्यक्त हुई है। स्वर्ग एवं नरक वास्तव में इसी मानव-जीवन में है। उसका अस्तित्व कहीं आकाश में नहीं है। यह भावना देवसेना के शब्दों में साफ झलकती है। वह कहती है—'जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श

---

[1]स्कन्दगुप्त पृ० १३८, पृ० १५४

को नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल, स्वर्ग है। और वह इसी लोक में मिलता है।' इसी मानवलोक में चन्द्रगुप्त-सा व्यक्ति मिलता है जो मर्यादा एवं कुल के गौरव के लिये सब कुछ त्यागने को प्रस्तुत रहता है, फिर दूसरे तरफ श्मशान के कुत्तों के समान नीच, नराधम रामगुप्त ऐसे भी व्यक्ति मिलते हैं, उसी प्रकार अलका और आंभीक, राज्यश्री और विकट घोष। स्कन्दगुप्त और प्रपंचबुद्धि के समान भी लोग इसी संसार में प्राप्य हैं।

३

प्रसाद की भाषा

भाषा भावों के प्रकटीकरण का एक माध्यम है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सिंहावलोकन से पता चलता है कि पद्य की भाषा सदा से विवादमयी और संघर्षपूर्ण रही है। पहले ब्रजभाषा की धारा ही काव्य-भाषा की मुख्य धारा थी। पीछे कालक्रमानुसार खड़ी बोली की धारा प्रबल होती गई और दोनों में काफी होड़ रही। ब्रजभाषा अपनी माधुर्य और संगीत-प्रियता के लिए प्रसिद्ध है, तो खड़ी बोली पौरुष और ओज प्रकाशन के लिए। इसलिए जब खड़ी बोली का स्वरूप निखरने लगा तो कितने कवियों ने खड़ी बोली पर कर्णकटुता का दोष लगाया। इस दोष के परिहार के निमित्त कितने सज्जन खड़ी बोली में ब्रजभाषा का पुट देकर उसे मधुरतर बनान की चेष्टा करने लगे। पर खड़ी बोली के कवियों ने ऐसी विचार-धारा को सर्वथा अनुचित बतलाया और उन लोगों की चेष्टा खड़ी बोली को खड़ी बोली के ही रूप में माधुर्य और प्रसाद गुणयुक्त बनाने की रही। गुप्तजी ने सर्वप्रथभ ऐसा प्रयास किया। पर उनकी भाषा में काफी रूखापन था जिसका पीछे आने वाले कवियों, विशेषतया 'प्रसाद' और 'पन्त' द्वारा परिमार्जन हुआ। आज खड़ी बोली तो मधुरिमा की मूर्ति ही बनी बैठी है। आज इसमें जो लोच और रवानी, कोमलता और प्रवाह मिलता है, उसके सामने ब्रजभाषा क्या भारत भूमि की

कोई भी भाषा समता के लिए प्रस्तुत नहीं की जा सकती। यह तो हुई पद्य-भाषा की बात।

जहाँ पद्य की भाषा को काफी होड़ करनी पड़ी वहाँ गद्य इस होड़ से सर्वथा वंचित रहा। इसका प्रधान करना था गद्य-साहित्य में ब्रजभाषा के विकास का अभाव। इसलिए खड़ी बोली गद्य के पथ में कोई भी रुकावट नहीं आई। यह अपनी पूर्ण गति से आगे बढ़ने लगी। भारतेन्दु ने इसके पथ को कंटक एवं बाधाविहीन बनाकर इसकी प्रगति की धारा के सुनिश्चित रूप की ओर इंगित किया। फिर तो लड़खड़ाती खड़ी हिन्दी अकड़कर खड़ी हो गई और भाव, भाषा तथा शैली तीनों दिशाओं में हिन्दी ने अपना पुराना कचुक फेंककर नया धारण किया। और अब तो वर्तमान खड़ी बोली का गद्य सभी प्रकार के भावों के प्रकाशन का माध्यम बन गया है।

जयशंकर प्रसादजी के नाटकों की भाषा उनके साहित्य के अन्य अंग-प्रत्यंगों की भाँति ही विवादास्पद है। प्रसादजी के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रसादजी की भाषा-शैली परंपरागत विकास का सूचक नहीं; वरन् एक आकस्मिक खड़े होने वाले स्वरूप का ही। यही कारण है कि प्रसादजी की भाषा और द्विवेदी कालीन लेखकों की भाषा में बड़ा अंतर पड़ जाता है। यह परंपरा विच्छेद-साहित्य के इतिहास लेखकों को भ्रम में डाल देने वाला होता है। 'प्रसाद' के परवर्त्ती काल के लेखकों की भाषा में भी प्रसादजी की भाषा के विकास का स्वरूप नहीं प्रतीत होता वरन् द्विवेदी कालीन भाषा का ही।

प्रसादजी के नाटकों में प्राय: तत्सम शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य है। यह उनकी रुचि की अनुकूलता पर निर्भर है। उनके नाटकों का विषय इतिहास के उस खंड से सम्बन्धित है जिसे हम

हिन्दू काल कहते हैं। प्रारम्भिक नाटकों में तो संस्कृत भाषा के बाहुल्य से क्लिष्टता का यत्र-तत्र समावेश होने लगा है। पर लेखक ज्यों-ज्यों प्रौढ़ता प्राप्त करता जाता है त्यों-त्यों उसकी रचना सरल और गम्भीर होती जाती है। संस्कृत साहित्य का उन्हें इतना गम्भीर अध्ययन है कि उनकी रचनाओं में संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग यों ही हो जाता है और वह भी बहुलता से। प्राथमिक रचनाओं में संस्कृत शब्दों के प्रयोग भाव की धारा के सरल प्रवाह में रोड़ा अटकाते हुए पाये जाते हैं। पर पीछे इनके नाटकों में भाषा की दुरूहता दूर हो गई है। उत्तरवर्ती रचनाओं में संस्कृत के प्रचलित शब्द तथा तद्भव और देशज शब्दों के मिश्रण से भाषा में माधुर्य और ओज की रसगंगा प्रवाहित हो गई है। अन्तिम रचना 'ध्रुवस्वामिनी' तो भाषा के सब प्रकार के दोषों से वंचित होकर हृदय में 'अमित तोष' उत्पन्न करती है। प्रसादजी का शब्द भाण्डार संस्कृत तथा हिंदी शब्दों तक ही सीमित है। उनकी भाषा में विदेशी, उर्दू, फारसी के शब्द नहीं के बराबर आए हैं। इसी से इनकी रचनाओं में एक गम्भीर-शांतरस की धारा प्रवाहित रहती है। उनके हास्य भी गम्भीरता लिए होते हैं। हास्य के लिए उर्दू, फारसी के शब्द बड़ा ही काम देते हैं। संस्कृत शब्दों में पाठक को हास्य के द्वारा तिलमिलाने की शक्ति का सर्वथा अभाव है। वे बहुत से बहुत एक मीठी गुदगुदी उत्पन्न कर सकते हैं, इसके आगे का क्षेत्र उनका अपना नहीं।

प्रसादजी की भाषा में मुहावरे एवं लोकोक्तियों का सर्वथा अभाव है। इसका प्रधान कारण संस्कृत का प्रयोग ही है। मुहावरों के प्रयोग से जो रोचकता शैली में आ जाती है, उससे 'प्रसाद' के नाटकों के संवाद सर्वथा वंचित रहते हैं। अतः

उनके संवादों में कहीं-कहीं शिथिलता आ जाती है जो उनके नाटकों का दोष है।

गीत के प्रकरण में प्रसाद की काव्यमयी भाषा का विवेचन हो चुका है, यहाँ गद्य की भाषा ही विचारणीय है। भाषा की उपयुक्तता सम्वादों की स्वाभाविकता पर ही निर्भर करती है। इनक नाटकों के सम्वादों की भाषा सर्वथा एक प्रकार की है। पात्रोचित भाषा का सर्वथा अभाव है। विदेशी, पंडित, दास-दासी, राजा, सैनिक इत्यादि सभी संस्कृतमय भाषा का प्रयोग करते हैं। यह उनके नाटकों में एक खटकने वाली वस्तु है जिस पर आलोचक उँगली उठा सकता है। इसके तर्क में प्रसाद-जी का कथन यों है—भिन्न-भिन्न देश और वर्गवालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग करने से नाटक को भाषाओं का अजायबघर बनाना पड़ता है जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है। इसके अतिरिक्त इस विषय की अधिक आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने कितने विदेशियों को हम अपनी ही तरह हिंदी बोलते-समझते पाते हैं... इस कथन की आंशिक सत्यता को मानते हुए भी यह कहना उपयुक्त होगा कि इनके नाटकों के पात्र एक रंग में रँगे जान पड़ते हैं। मैक्समुलर का कथन है, 'Every Indian is born philosopher.' यह उक्ति 'प्रसाद' के पात्रों के साथ भी लागू है। उनके सभी पात्र दार्शनिक हैं और साथ ही साथ पूर्ण पण्डित भी। आजकल के नाटककार पात्रोचित भाषा का ध्यान बराबर रखते हैं और इससे नाटकों की रोचकता की वृद्धि हो जाती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में इस बात का ध्यान रखा गया है। अतः इनके नाटक

अत्यन्त स्वाभाविक हुये हैं। दासी का यह कथन 'देवि सायंकाल हो चला है। वनस्पतियाँ शिथिल होने लगी हैं। देखिए न, व्योम विहारी पक्षियों का झुण्ड भी अपने नीड़ों में प्रसन्न कोलाहल से लौट रहा है। × × ×' हास्यास्पद ही लगता है। ऐसे-ऐसे कथन से नाटक में अस्वाभाविकता का समावेश हो जाता है। यह दोष उन नाटकों में और भी बढ़ गया है जिनमें लम्बे-लम्बे कथोपकथन हैं। 'अजातशत्रु' में शक्तिमती और दीर्घकारायण का अथवा स्कन्दगुप्त में बौद्धों एवं ब्राह्मणों का सम्वाद इसी दोष के भीतर आते हैं। पर 'ध्रुवस्वामिनी' में सम्वादों का विशेष औचित्य और सौन्दर्य भी है। इसमें एक या दो काव्यात्मक शैली के कथोपकथन को छोड़कर, सर्वथा इस प्रकार के कथोपकथनों का अभाव है। इसमें व्यवहारिकता का प्रयोग अधिक हुआ है। यही कारण है कि निरर्थक विस्तार भी नहीं होने पाया है और शैली में भी सीधापन है।

नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में प्रसादजी का निम्नलिखित मत देखिए—'मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए; किन्तु इसके लिए भाषा की एकतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए उपयुक्त नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों एवं विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।'[1] इन विचारों को ध्यान में रखकर यदि हम प्रसाद की भाषा

---

[1]काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ७९.

पर किये गये उपरोक्त आक्षेपों पर विचार करें तो बहुत कुछ भ्रम का निवारण हो जायगा। सत्य तो यह है उन ऐतिहासिक युगों का भव्य दृश्य प्रस्तुत करने के लिए भव्य भाषा की भी आवश्यकता थी—हल्की एवं छिछली शब्दावलि में वे गहन भाव पिरोए नहीं जा सकते थे। इनके शब्दों में इतिहास अपने मूर्त्त सांस्कृतिक रूप में खड़ा दिखलाई देता है। यहाँ युग की अनुकृति भाषा इतने प्रकर्ष पर है कि प्रथम दृश्य से ही हम उस युग में पहुँच जाते हैं जहाँ बौद्ध, मौर्य एवं गुप्त काल के विशिष्ट व्यक्ति निवास करते थे। तत्कालीन विचार-पद्धति, परिषदादि के दृश्य, युद्धों के भाषण आदि भाषा के कारण ही सजीव हो उठते हैं। वीरता का पियूष स्कन्द, पर्वत्तेश्वर एवं चन्द्रगुप्त की वाणी में ही मिलता है। तत्कालीन प्रयुक्त शब्दा-वलियाँ—महाबलाधिकृत, परमभट्टारक, महाप्रतिहार, कुमारा-मात्य, महादण्ड नायक, कुलपति, गुल्म, अन्तर्वेदादि--वातावरण निर्माण में काफी सहायता देती हैं।

एकाध उदाहरण लम्बे-लम्बे कथोपकथनों के भी उपयुक्त होंगे—'अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थीं, संध्या को शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक लेती थी। उस मधुरिमा का, उस सौन्दर्य का, उस अतींद्रियजगत् की साकार कल्पना की ओर हमने हाथ बढ़ाया था, वहीं, वहीं स्वप्न टूट गया।' भाषा का इस रूप का प्रयोग सर्वथा अनुचित है। पर ऐसे कथोपकथन भारतीय पात्रों से ही कराए हैं। विदेशी पात्रों से ऐसा नहीं कराया गया है, इससे स्वाभाविकता की रक्षा होती है। सिकन्दर की वाणी इसका उदाहरण स्वरूप है यथा—'धन्य

हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय विमुग्ध हूँ। आर्य! जिनसे खड्ग परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर—मैत्री के हाथ मिलाकर जाना चाहता हूँ।'[१]

सारांश में यह कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' के प्रारंभिक नाटकों की भाषा में कुछ दुरूहता, कुछ कथोपकथन की दृष्टि से दोष प्रतीत होते हैं। पर धीरे-धीरे वह मन्द पड़ जाती है, और भाषा की लोल-लोल लहरियाँ भावों के मंद-मंद मलयानिल के झूले पर झूल-झूलकर नाचने लगती हैं। प्रसाद की तत्सम प्रधान भाषा से अपरिचित साधारण पाठक को कहीं-कहीं क्लिष्टता का सामना करना पड़ेगा। संस्कृत के गंभीर मनन, बौद्ध साहित्य के निकट अध्ययन एवं निजी दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण उनकी भाषा ने एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त कर लिया है। यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि उनके भाव प्रकाशन के साथ-साथ पाण्डित्य प्रदर्शन का भी मोह है। हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी भाषा भावों की पूर्णतया अनुगामिनी हो गई है। फलस्वरूप, दार्शनिक पेचीदी बातों के प्रकटीकरण के समय वह कठिन और क्लिष्ट हो गयी है। सर्वत्र भाव की एक ऊँची सतह बनी मिलती है—जहाँ चपलता और हल्कापन का प्रवेश नहीं है। इन ढेर के ढेर गुणों में त्रुटियाँ एकदम दब जाती हैं।—'एकोहि् दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।'

[१]चन्द्रगुप्त, पृ० १२१

४

प्रसाद की शैली

भाषा भाव की अभिव्यक्ति का एक उपाय है और शैली उसका व्यक्तिगत प्रयोग। हृदय में उत्थित भावनाओं को व्यक्त करने के लिए मानव मचल उठता है—चाहता है कितने सुन्दर तरीके से कहें कि सुनने वाले प्रभावित हो जायँ। प्रभाव की अतिशयता लेखक की कुशलता पर ही निर्भर है।

सर्वप्रथम शैली की कसौटी है भाषा की भाव बहन करने की क्षमता। यदि भाव गंभीर हों तो भाषा भी उसी के अनुकूल होनी चाहिए, नहीं तो पाठक लेखक के भावों को ठीक से ग्रहण न कर सकेंगे। यदि भाव सीधे-सादे हों और भाषा गम्भीर हो तो वह अस्वाभाविक प्रतीत होगा। इसलिए भाषा को भावों के अनुरूप होना अत्यावश्यक है। प्रसादजी की शैली इस कसौटी पर कसी जाने पर खरी उतरती है। अपने विशद भावों के द्वारा जिस काल का वे चित्र उपस्थित करना चाहते हैं उसके लिए इस प्रकार की भाषा की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है। उनके नाटकों को पढ़ते समय पाठक भूल जाते हैं कि वे इस बीसवीं सदी के हैं। 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु' को पढ़ते समय मौर्यकाल, 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' को पढ़ते समय गुप्तकाल और 'राज्यश्री' का अध्ययन करते समय 'हर्ष' के समय का वातावरण हमारे नेत्रों के सम्मुख झूलने लगता है। यह प्रभाव हम उनकी भाषा से इसलिए जानते हैं कि हमें उसी युग की

शब्दावली देकर उनसे हमारा परिचय कराती है। भाषा की यह तन्मयता बड़ी ही उच्च कोटि की है। 'ध्रुवस्वामिनी' में शकराज की मृत्यु के पश्चात् जब कोमा ध्रुवदेवी के पास शकराज का शव माँगने आती है तब वह कहती है—'रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किंतु सब के जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है।' उपरोक्त अंश में 'तुम भी स्त्री हो' तथा 'प्रेम की दीवाली' आदि शब्दों में मानों भावनुरूपता का सार समाया हुआ है। भाषा के आवरण में भावरूपी शरीर की शोभा निखर पड़ी है। एक और उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। चन्द्रगुप्त जब रामगुप्त के द्वारा बंदी बना लिया गया तब ध्रुवदेवी का आवेश, देखिए और उस आवेश के उतार-चढ़ाव के अनुकूल भाषा 'और जो लोग बोल सकते हैं, जो अपनी पवित्रता की दुन्दुभी बजाते हैं, वे सबके सब साधु होते हैं न? (चन्द्रगुप्त से) कुमार! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बन्धन नहीं। कहते क्यों नहीं कि मेरा यही अपराध है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया।' यहाँ मानों ध्रुवस्वामिनी के हृदय का क्रोध और आवेग पूर्णतया कागज पर उतर गया है।

प्रसादजी की यह विशेषता उनकी अपनी है। इस क्षेत्र में हिन्दी का शायद ही कोई नाटककार सफल हो सका हो। भारतेन्दुकाल में नाट्यसाहित्य अनुवाद रूपी लाठी के सहारे खड़ा होना ही सीख रहा था, अतः उस समय के नाटकों से

ऐसी सफलता की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। भारतेन्दुकाल के पश्चात् हिन्दी नाटक साहित्य में कोई विशेष उल्लेखनीय रचना नहीं हुई। यद्यपि नाटक लिखने वालों की एक बहुत बड़ी संख्या इतिहास में है, किन्तु इसमें से किसी ने असाधारण प्रतिभा का परिचय नहीं दिया। उसके बाद 'प्रसाद' की तूलिका द्वारा नाटक को एक नवीन अभिव्यक्ति तथा रूपरेखा मिली जिसके फलस्वरूप नाटक-साहित्य में एक नवीन जीवन और जागृति का संचार हुआ। प्रसादजी ने प्राच्य तथा पाश्चात्य शैली के संमिश्रण से एक स्वतंत्र शैली बना ली है। इस शैली के अनुकरण की चेष्टा विनोद शंकर व्यास ने कहानियों के क्षेत्र में, सेठ गोविन्ददास एवं उदयशंकर भट्ट ने नाटक के क्षेत्र में की अवश्य पर उस गम्भीरता और गहराई तक पहुँचने में वे सर्वथा असमर्थ रहे। प्रसादजी के पश्चात् के नाटककारों में भी यह गुण नहीं आ सका। लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाषा भावों को एकदम मानों छोड़कर ही चलती है। उनकी शैली के बारे में यह उक्ति सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है 'ऐसा मालूम होता है कि सुन्दर षोड़शी कला किसी कामशास्त्र के ज्ञान से रहित युवक के सम्पर्क में आ गई हो। उनके तीव्र भाव, अद्‌भुत मानसिक संघर्ष, अन्त-र्द्वन्द्व, नाटकीय भाषा के ओछेपन में बँध नहीं पाते हैं, निकल पड़ते हैं और बिखर जाते हैं।' उदयशङ्कर भट्ट और सेठ गोविन्ददास की भाषा में भी वह गम्भीरता नहीं आने पाई है जो 'प्रसादजी' में है। इधर हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों की भाषा बहुत कुछ भावों के अनुकूल हो पाई है पर अभी उसमें कुछ त्रुटियाँ रह ही गई हैं।

प्रसादजी के भाव, एवं कल्पना इतने महान् हैं कि उनकी

गम्भीरता एवं विशदता के भारवहन के लिए गद्य की भाषा कभी भी उपयुक्त नहीं हो सकती है। यही कारण है कि उनका सम्मान इस युग में उतना नहीं हुआ है। उनके भाव इतने गम्भीर हैं कि वे किसी भविष्यकाल के लिए अधिक उपयुक्त होंगे। कलाकार सदा अपने युग से आगे ही चला करता है, इस उक्ति में तथ्य है, सत्यांश है। प्रसादजी अपने युग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। उनके गम्भीर भाव काव्य ही में आकर पूर्ण रूप से व्यक्त होते हैं। इसी से 'कामायनी' का जितना आदर हिन्दी-साहित्य में हुआ उतना उनके उपन्यास ('कङ्काल' और 'तितली') तथा नाटकों तथा कहानियों का नहीं हो पाया। भावों की गम्भीरता को वहन करने में असमर्थ होकर गद्य की भाषा भी उनकी काव्यमयी हो गई है। उनके गद्य को पढ़ते समय काव्य का आनन्द मिलता है। 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रारम्भ में ही दृश्य विधान के लिए जो कोष्ठकान्तर्गत विवरण दिए गए हैं वे पाठक के हृदय में काव्यरस के आनन्द को उड़ेल देते हैं। इन पंक्तियों में काव्य की आत्मा का मुखरित स्वर है—'शिविरका पिछला भाग, जिसके पीछे पर्वतमाला का प्राचीर। शिविर का एक कोना दिखलाई दे रहा है जिससे सटा हुआ चन्द्रातप टँगा है। मोटी-मोटी रेशमी डोरियों से सुनहले काम के परदे खम्भों से बँधे हैं। दो-तीन सुन्दर मंच रखे हैं, चन्द्रातप और पहाड़ी के बीच छोटा-सा कुन्ज, पहाड़ी पर से एक पतली जलधारा उस हरियाली में बहती है।× × ×' निर्देश के वाक्य यथा 'गम्भीर निश्वास लेकर', व्यंग्य से मुस्कराते हुए, 'संभ्रम से', आदि आदि शब्दांश भी काव्यमय हो गए हैं। प्रसादजी संस्कृतमय भाषा का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं ऐसे शब्द भी हैं जिनके प्रयोग हिन्दी में

नहीं होते। 'प्रकोष्ट' तथा 'क्लीव' शब्द यों तो हिन्दी में आते ही नहीं और नाटकों में तो एकदम नहीं आते। 'क्लीव' शब्द संस्कृत का भी क्लिष्ट शब्द है।

प्रसाद की भाषा में मुहावरों की चुलबुलाहट तो उतनी स्पष्ट नहीं है, पर उनका अभाव भी नहीं है। 'राजनीति के पीछे नीति से हाथ न धो बैठो।' तथा 'और जो अपनी पवित्रता की दुन्दुभी बजाते हैं वे सब के सब साधु हैं न? कुमार! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बंधन नहीं।'—ये मुहावरों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। लेकिन सत्यतः प्रसाद की गम्भीर मनस्थिति को मुहावरे के चकमक में पड़ने का अवकाश ही नहीं था। फिर भी कलाकार की कला में ये मोतियाँ अलक्ष्य रूप से ही सौन्दर्य बढ़ा रही हैं। बिना प्रयास के ही इनकी उपस्थिति के कारण रोचकता में वृद्धि हो गयी है। प्रसाद के सूक्ति रूप में कहे गये वाक्य भी अनमोल हैं—'मेघ संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो उसकी बुद्धि को बिजली के समान चमकना ही चाहिये।' 'वीरता जब भागती है तो उसके पैरों से राजनीतिक छलछंद की धूलि उड़ती है।' 'सोने की कटार' पर मुग्ध होकर कोई उसे अपने हृदय में डुबा नहीं सकता।' 'प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच-समझकर चलना दोनों बराबर हैं।' 'विधान की स्याही का एक विन्दु गिरकर भाग्यलिपि पर कालिमा चढ़ा देता है।' 'सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के फल हैं।' ऊपर के उदाहरण में अनेक संतुलित वाक्यों से भी चमत्कार उपस्थित किया गया है। अप्रस्तुतों का सहारा लेकर भी भावों को स्पष्टता मूर्तिमान बनाने की चेष्टा की गयी है। ध्रुवस्वामिनी की स्थिति का वर्णन मन्दा के इन शब्दों में है—

"नारी हृदय, जिसके मध्य विन्दु से हटकर शास्त्र का एक मन्त्र कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल प्रवर्त्तन चक्र में घूमने से रोक रहा है।"

प्रसादजी थोड़े से थोड़े शब्दों में गम्भीर से गम्भीर एवं अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करने में समर्थ हुए हैं। 'स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास-पूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है?' इन पंक्तियों में लेखक ने विवाह का मतलब कितने थोड़े शब्दों में कह डाला है। 'थोड़े शब्दों के तन्तु में इतने भावों को एक साथ पिरो देने में ही कला की पराकाष्ठा है, और इस पर भी क्लिष्टता का नाम नहीं।' थोड़े ही शब्दों में बहुत भाव निचुड़ आए हैं। 'दीरघ दोहा अर्थ के आखर थोड़े माँहि' वाली भावना का इसमें पूर्ण प्रतिपादन है। यह प्रसादजी की मौलिक प्रतिभा का द्योतक है। नाटककार ने उपरोक्त पंक्ति में छोटे-छोटे सरल शब्दों के सहारे चिरशाश्वत और चिरसत्य दार्शनिक भावना को व्यक्त कर डाला है। थोड़े ही शब्दों में व्यक्त होने पर भी उसमें जरा भी क्लिष्टता नहीं। यह सचमुच अन्य कलाकारों के लिए अनुकरणीय वस्तु होगी। प्रसादजी की भाषा में धारा प्रवाह प्रायः सभी स्थलों प्रर मिलता है; पर प्रायः जहाँ भावावेश मिलता है, वहाँ भाषा की रमणीयता बढ़ जाती है। हृदय में जिस समय भावनाओं का वेग बढ़ जाता है—जब एक पर एक 'सागर लहरी समान' भाव चले आते हैं—उस समय शीघ्रता से उनका शाब्दिक रूप ग्रहण करना कठिन हो जाता है। इस अवसर पर यदि लेखक सिद्धस्थ नहीं हुआ तो भावों के प्रकटीकरण में दुरूहता आ जाती है। इस दुरूहता का किञ्चित् प्रभाव भी प्रसाद की भाषा तथा भाव पर नहीं पड़ता। ऐसे अवसरों पर छोटे-छोटे

वाक्यों का सहारा ले प्रसादजी चतुराई के साथ सुन्दर पदावली की सृष्टि करते हैं। एक वाक्य का जोड़-तोड़ दूसरे से इतना अच्छा होता है कि भाषा वेगवती हो जाती है, उसमें जान-सी आ जाती है। बड़े तथा लम्बे वाक्यों में भी भाषा का यह रूप वर्तमान रहता है। मन्दाकिनी के ओजपूर्ण कथन में छोटे-छोटे वाक्यों की गति देखिए—"अमात्य यह कैसी बिवशता है! तुम प्राणदंड के लिए उत्सुक! महादेवी आत्म हत्या करने के लिए प्रस्तुत। तो फिर यह हिचक क्यों? एक बार अंतिम बल से परीक्षा कर देखो। बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश!" ध्रुवस्वामिनी के क्रोध से काँपते स्वरों को भी देखिए—'पुरोहित! तुमने जो मेरा राक्षस विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है! यह जन संहार देखो। अभी उस प्रकोष्ठ में रक्त से सजी शकराज की लोथ पड़ी होगी। कितने ही सैनिक दम तोड़ते होंगे, और रक्त धारा में तिरती हुई मैं भी राक्षसी-सी साँस ले रही हूँ। तुम्हारा स्वस्त्ययन मुझे शाँति देगा?' शकराज के शव माँगने के समय पर कोमा की विवशतापूर्ण परिस्थिति का सूक्ष्म वर्णन कवि के एक एक शब्द से व्यंजित है। कोमा की प्रत्येक मनोदशा पर शब्द बोल उठते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' की असहायवस्था का चित्रण नाटककार ने कितने कलात्मक ढंग से किया है—'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न!' दुखिया नारी की परिस्थिति का और क्या यथावत वर्णन होगा! इसमें नारी की असहायवस्था के साथ ही साथ उसकी खीझ, वेदना, करुणा, उपालंभ—सभी—का समष्टि रूप में प्रकाशन है। लेखक

ने थोड़े से ही शब्दों में इतना भावपूर्ण चित्र अंकित कर दिया है।

सच तो यह है कि जो स्वतः सुन्दर है उसके लिए आभूषणों की आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु यदि वह अलंकार से विभूषित हो तो सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ होती है। कहा भी है—'भूषण बिना न सोहई कविता, बनिता मित्र।' अलङ्कारों का प्रयोग विशेषतया कविता की मखमली फर्श पर पूर्णतया शोभता है। गद्य में इसका समावेश करना सिर पर एक बला ही लेना है। पर अलङ्कारों के प्रयोग के समय यह विचारणीय है कि अलङ्कार बोझिल भाषा कहीं भावों की उग्रता को मलिन न कर दे। प्रसादजी के गद्य में अलङ्कारों का बाहुल्य है। श्लेष, यमक इत्यादि का प्रयोग उन्होंने गद्य में भी किया है। प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का निरीक्षण प्राप्त होने के कारण ये बहुत सुन्दर आलंकारिक विधान करते हैं। आपके भाव क्षेत्र की परिधि का विस्तार इतना अधिक है कि प्राकृतिक रमणीय उपादान आपके अप्रस्तुत विधान में सहायक होते हैं। एक एक प्रसंग प्राप्त दृश्य अपने रमणीय अप्रस्तुत ढंग के साथ खडे हो जाते हैं। उनमें माधुर्य और रमणीयता इतनी अधिक होती है कि जी नहीं ऊबता।

किसी चीज का हूबहू चित्र उतार देना कला की महान् विभूति है। वाह्य के अतिरिक्त अन्तर्जगत की भावनाओं का यथावत् चित्रण तो और भी कमाल का काम है। सभी मनुष्य कितनी बातों को देखते हैं, पर उसे उसी प्रकार चित्रण कर देना मानो कला के उत्कर्ष की चरम परिणति है। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमारे साहित्यकारों ने 'स्वाभावोक्ति' को अलङ्कारों में गिना था। यह आवश्यक नहीं

कि सौंदर्य को कल्पना का नमक-मिर्च लगाकर ही रसिकों के सामने परोसा जाय। उसका हूबहू चित्रण भी कलाकार ही के बूते की बात है, जनसाधारण की नहीं। किसी सुन्दर रमणी के सौन्दर्य को देखकर सामान्य मानव उसी तरह भाव विभोर हो जाता है जिस तरह एक कलाकार, पर दोनों में अन्तर यही है कि सामान्य पुरुष की अनुभूति 'गूँगे का गुड़' है, किन्तु कलाकार उस अनुभूति को मधु के प्याले में ढालकर पाठकों को भी बाँट देता है। कलाकार, सामान्य व्यक्ति की गूँगी भावुकता को वाणी दे देता है। उदाहरण के लिए सूरदास का निम्नलिखित पद्य ले लें :—

'अरुझो री मेरो बालगोविंदा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन का माँगै चंदा।
वासन कै जल धर्‌यो यशोदा, हरि को आनि दिखावै।
रुदन करत ढूँढै नहिं पावत धरनि चंद क्यों आवै।'

उपरोक्त पंक्तियों में एक रूठे बालक की मचलाहट का चित्रण है। इसमें कल्पना की कूँची जरा भी नहीं दी गई है। फिर भी पढ़ने पर 'अमित तोष' उत्पन्न होता है। इसका कारण है चित्रवत् अंकन। नित्य हम बालकों को रोते, मचलते देखते हैं, पर इस पर हमारा मन रमता नहीं है। लेकिन जब हम कविकृत बाल वर्णन पढ़ते हैं, तो जो दृश्य केवल धुँधले और सामूहिक रूप से कवि के मानस पटल पर अंकित था वह स्पष्टतर और विश्लिष्ट रूप में अंकित हो जाता है।

वस्तुस्थितियों और मनस्थितियों के विस्तृत एवं जीवित वर्णन प्रसादजी के नाटकों में भरे पड़े हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के प्रारम्भ में ध्रुवस्वामिनी का जो दैन्यपूर्ण चित्र है वह

इसी के अन्तर्गत आयेगा। नाटकों में इस प्रकार के यथार्थ चित्रण का बड़ा ही महत्व है। उससे पात्रों के चरित्र के क्रम-विकास का पता चलता है। शिखर स्वामी का चरित्र इसी प्रकार अंकित किया गया है। रामगुप्त जब पूर्ण बलशाली रहता है उस समय शिखर स्वामी रामगुप्त की हरेक बातों में 'जी-हुजूर' करता चला जाता है, पर जब रामगुप्त परिषद् के द्वारा राजगद्दी से उतार दिया जाता है तब वह रामगुप्त के विरुद्ध हो जाता है। शिखर स्वामी आजकल के लोगों की भावनाओं का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करता है।

शैली की सफलता उसकी बोधगम्यता में है। काव्यगुणों में हमारे आचार्यों ने प्रसाद, ओज और माधुर्य को गिनाया है। इनमें ओज और माधुर्य का सम्बन्ध वीर शृङ्गार आदि रस विशेष अथवा प्रसंग विशेष से है, किन्तु प्रसाद गुण की उपादेयता सर्वत्र बतलायी गयी है। प्रसादजी की प्रारम्भिक रचनाओं में काफी क्लिष्टता आ गई है। इसका मुख्य कारण जैसा कि निवेदन किया जा चुका है, ।संस्कृत शब्दों का बाहुल्य ही है। 'विशाखादि' रचनाओं में तो क्लिष्टता अपने प्रकर्ष पर है। परवर्ती रचनाओं में नाटककार ने यथासम्भव प्रसादगुण लाने की चेष्टा की है। 'प्रसादजी' की यह विशेषता रही है कि उन्होंने इसके निमित्त भावों की उग्रता की हत्या नहीं की है। गुप्तजी तो अपने काव्य में प्रसाद गुण के निमित्त अपनी कविता को काव्यगुण से सर्वथा हीनकर एक तुकान्त रचना का रूप दे देते हैं।

'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद गुण का समावेश अपने सच्चे अर्थ में हुआ है। इन दोनों रचनाओं में 'प्रसाद-जी ने अपने नाम की सार्थकता सिद्ध कर दी है।

अँगरेजी साहित्य में आश्चर्य-वाक्यों के द्वारा शैली की रोचकता बढ़ायी गई है। अँगरेजी में इन्हें epigrams कहते हैं। पाश्चात्य साहित्य और सभ्यता से प्रभावित होकर हिन्दी में भी इसका आगमन हो गया है। कुछ कवियों और लेखकों की रचनाओं में इसका समावेश भी होने लगा है। गुप्तजी ने ऐसे वाक्यों का प्रयोग अपने काव्यों में किया है। प्रसादजी ने भी अपने काव्यों तथा नाटकों में इसका यत्र-तत्र समावेश किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में कोमा की यह उक्ति—'संसार में बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती ही हैं, और बहुत सी अच्छी बातें बुरी मालूम पड़ती हैं, उसी का उदाहरण है।'

हास्य, साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। साहित्य में शिष्टहास्य की आवश्यकता रहती है और उसका मूल्य भी उसकी शिष्टता पर ही निर्भर करता है। हास्य के प्रलोभन में कवि या लेखक शिष्टता की सीमा को लाँघने के लोभ को संवरण नहीं कर सकते। जी० पी० श्रीवास्तव के हास्य स्थल-स्थल पर इस दोष से पूर्ण हैं। 'दुबेजी' के सम्बन्ध में भी कुछ अंशों तक यह उक्ति सत्य साबित होती है। नाटकों में हास्य की आवश्यकता साहित्य के अन्य अंग-प्रत्यंगों की अपेक्षा अधिक रहती है। क्योंकि यह सबसे निरापद रस है—सभी रसों के साथ सहज ही सामञ्जस्य बैठ जाता है। दर्शक गम्भीरता के बीच हास्य के चुटकी की आवश्यकता समझता है और इसीलिए हमारे यहाँ के प्राचीन नाटकों में विदूषक का स्थान है। प्राचीन नाटकों के लम्बे-लम्बे कथोपकथनों के द्वारा दर्शकों के दिल और दिमाग दोनों थक जाते थे। उस समय विदूषकों का हास-परिहास उस विषादमयी परिस्थिति में एक सुनहली रेखा खींच

देता था। प्रसादजी के नाटकों में भी हास्य की योजना की गई है। उनके मतानुसार हास्य की योजना मनोरंजनार्थ होते हुए भी दर्शकों के चरित्र को उन्नत बनाने के लिए ही की जानी चाहिए। अपने इस मत का प्रतिपादन उन्होंने 'बिशाख' नाटक की भूमिका में किया है—'परिहास का उद्देश्य संशोधन है, साहित्य में नवरसों में वह एक रस है, किन्तु इस विषय की उत्तम कल्पनाएँ कम हैं।' अपने प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने 'विदूषक' का स्थान दिया है जैसे वसन्तक और मुद्गल। उनकी परवर्त्ती रचनाओं में घटनाओं की तीव्रता इतनी अधिक मात्रा में रहती है कि उसमें हास्य की लम्बी योजना का अवकाश नहीं रहता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में हिजड़े, बौने इत्यादि के वार्तालाप कुछ हास्योत्पादक हैं पर उसके द्वारा नाटक का दूसरा प्रयोजन भी सिद्ध होता है—और वह है गर्भाङ्क प्रवेशकादि का। आगे होने वाली घटनाओं की सूचना इससे मिल जाती है और हम उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। रामगुप्त की उक्तियाँ भी हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। दूत ने यह समाचार दिया कि शत्रुओं ने शिविर-पथ को अवरुद्ध कर लिया है। मूर्ख एवं विलासी राजा इससे शिविर को और सुरक्षित ही समझता है।

आधुनिक युग में 'टेकनीक' की दृष्टि से और साहित्य में अधिकाधिक मनोविज्ञान के प्रचार के कारण, अब विदूषक एक फालतू पात्र समझा जाने लगा है। उनके अनुसार मानव-जीवन में केवल हँसना ही काम रहना किसी के अंश में भी बुरा ही है। ऐसे पात्र से क्या प्रयोजन जिसका नाटकीय वस्तु से कोई भी सम्बन्ध न हो! जो भी हो, प्रसादजी ने संस्कृत नाटकों की तरह ही अपने पात्रों की सृष्टि की है। हास्य की प्रणाली वही गतानुगतिक है। प्रायः सभी विदूषक ब्राह्मण हैं

जिनका मुख्य काम पेट भरना है। भास एवं कालिदास के प्रायः सभी विदूषक पेटू हैं। फिर भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि हास्य के अवतरणों में प्रसादजी अपने वास्तविक रूप में उस तरह नहीं हैं जैसे गम्भीर पात्रों के उद्‌गार में हैं।

हास्य के क्षेत्र में प्रसाद को सफलता नहीं मिली। वे सदा पुरानी लीक पर ही चलते रहे, थोड़ी भी मौलिकता नहीं आई। एक तो उनकी प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर थी ही नहीं। वैयक्तिक गम्भीरता ने उन्हें जीवन की गहराई में पैठ कर गहन तत्वों की अनुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति करने का ही आदेश दिया। प्रसाद की गहन भाषा ने हास्य के सहज प्रवाह में एक और जबरदस्त ठोकर लगायी। जिन युगों के चित्रण नाटकों में हम पाते हैं वे सभी किसी न किसी सन्धिकाल के समय हैं। हलचल पूर्ण, संघर्षप्रधान। यहाँ गम्भीर चिंतन ही सम्भव था। सुख शांति की सेज पर ही खिलखिलाकर हँसा जा सकता है। प्रसाद ने वर्तमान के नैराश्य को भूत की आशा से आलोकित करना चाहा था। इस दैन्य परिस्थिति में हँसने का किसे अवकाश है ?[१] यही कारण है कि प्रसाद के अनेक विदूषकों में न तो कोई व्यंग करने में ही पटु है, न हास्य उपस्थित करने में ही। बस ये अनुचर मात्र हैं। ये संस्कृत विदूशकों के ऐतिहासिक भग्नावशेष मात्र हैं—आधुनिक युग में इनसे मनोरंजन नहीं

---

[१] "जिस जाति में स्वतंत्र जीवन की चेष्टा है, वहीं इसके सुगम उपाय और सभ्य परिहास दिखायी देते हैं; परन्तु यहाँ तो रोने से फुरसत नहीं, विनोद का समाज में नाम ही नहीं फिर उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखे।"—प्रसाद (विशाख का 'परिचय' प्रथम संस्करण)

हो सकता है। ये विगत जीवन की याद अवश्य दिला देते हैं। इनके नाटकों में 'खींच तान कर कुछ परिहास खोज निकालना व्यर्थ का प्रयास है।'[1]

कवि के लिए कल्पना आवश्यक वस्तु है। इसके द्वारा नित्य-प्रति होने वाली घटनाओं को देश, कालादि की सीमित चहारदीवारी से दूर एक सार्वभौम रूप मिलता है। साधारण से साधारण इतिवृत्तात्मक घटना भी सहज सुन्दर पठनीय बन जाती है। यह आदर्शवाद की जननी है। इसी गुण के अभाव में इतिहास, अन्य समानताओं के रहते हुए भी काव्य से अलग हो जाता है[2] कवि का 'स्वयंभू' रूप इसी आधार पर निर्मित होता है।

प्रथमतः कवि होने के नाते प्रसाद के नाटकों में काव्यगत गुणों की अतिशयता है। पद्य के स्निग्ध दलों पर कल्पना के फुहारों की बात तो दूर, शुष्क गद्य की तापित वनस्थली भी हरी दीखती है। जहाँ यौवन और रूप के प्याले छलक उठते हैं वहाँ कवि की कल्पना सजग हो जाती है। यौवन पर झंझावात चला कि असाध्य होने के कारण कवि गरज उठा; यौवन के अँगड़ाइयाँ लीं कि कवि स्वप्न-जगत के आभ्रकुञ्जों में बैठकर उस स्वर्गिम जगत का चितेरा बन बैठा। रामगुप्त का विद्रोही मन ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के प्रेम का प्रत्यक्षीकरण कर दोनों से पिंड छुड़ाना चाहता है। शाक शिविर में जाने की

[1] हिन्दी नाट्य साहित्य—व्रजरत्नदास बी० ए०, पृ० १५५

[2] "It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen.........The work of Herodotus might be put in verse and it would still be a species of history, with metre no less than without it. Poetry tends to express the universal, history the particular"—Aristotle.

आज्ञा दी जाती है। पति के नाते रामगुप्त उपालंभ देता है। ध्रुवस्वामिनी का पत्नीत्व चिल्ला उठता है—'मुझे कलंक कालिमा के कारागार में बन्द कर, मर्म काव्य के धूँए से दम घोंटकर मार डालने की आशा न करो। आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिए तत्पर है।' संघर्षमय वातावरण में भी प्रसाद की लेखनी ने सुन्दर बेल बूटे उगा दिए। जीवन की अस्थिरता में हमें लच्छेदार बातें बोलने की आदत नहीं। हम ठोस वास्तविक परिस्थिति में सहज स्वाभाविक बातें बोलते हैं। कवि का क्षेत्र साधारण मानव के विचार-क्षेत्र से भिन्न रहता है। वह विषम परिस्थितियों में भी सतर्क रहता है। प्रसाद के कवि ने कभी सोना नहीं सीखा। और जहाँ अनुकूल वातावरण मिलता है वहाँ की तो कोई बात ही नहीं। सारी शब्दावली जैसे थिरकने लगती है। एक उफान आ जाता है जैसे भावों में और कवि की कल्पना स्निग्ध पटरी पर दौड़ने लगती है। ध्रुवस्वामिनी का यौवन जब आकांक्षा की वस्तु पा लेता है, हृदय पीड़ में जब स्वप्न भी सजीव होकर बोलने लगते हैं—जीवन का प्रत्येक तंतु, शरीर का अंग-अंग जब आनंद विभोर हो नाचने लगता है, तब कवि की कल्पना भी क्षण भर के लिए इस कोलाहल पूर्ण विश्व को नमस्कारकर पंखों के सहाय व्योम में उड़ जाती है। वहाँ की स्वप्निल रेखाओं में कल्पना सुन्दरी को अपनी बातें गूँथने में अलौकिक आनन्दोपलब्धि होती है। नीचे उतरकर वह उस प्रदेश की अर्जित सम्पति को विश्व के कल्याणार्थ बिखेर देती है। ध्रुवस्वामिनी की चढ़ती उम्र ने उसके रगों में जो उष्ण रक्त प्रवाहित कर दिया था—उसे वह ठुकरा नहीं सकती। नारी का निर्माण प्रेम की मिट्टी से ही

शायद युगयुगान्तर से होता आया है। यही वह स्थल है जहाँ वह जीतती है, जहाँ वह हारती है। जब विजयी होती है तो विश्वसाम्राज्य की सम्राज्ञी बनती है। यदि हार गयी तो सर्वनाश! ध्रुवस्वामिनी ने प्रेम के पवित्र प्रांगण में प्रवेश किया—प्रसाद की कल्पना अपनी नायिका के साथ। लोक लाज की परवा न कर वह चंद्रगुप्त का आलिंगन कर लेती है। कल्पना ने बाद में अपना मंत्र फूँका—भावनाओं की वारिधारा में कल्पना की जो तरंगे उठती हैं यद्यपि उनका अस्तित्व क्षणिक ही रहता है, फिर भी उनकी स्मृति चिरस्मरणीय बन जाती है। ध्रुवस्वामिनी आनन्दाप्लावित है—उन्मन मन, चपल चरण।—"कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन! कितने संतोष में भरा था! नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया है। जिस वायु-विहीन प्रदेश में उखड़ी हुई साँसों पर बन्धन हो—अर्गला हो, वहाँ रहते रहते यह जीवन असह्य हो गया था, फिर भी मरूँगी नहीं।" कोमा के हृदय के कोमल व्यक्ति को बासंती पवन के झोंके लगते हैं—हरिआली को देखकर दिल के फोड़े हरे हों जाते हैं। आज यौवन की वसंत-श्री स्वयं अपने को लुटाना चाहती है, पर प्रेम का ग्राहक तो युद्ध निमग्न है। प्रणय की मूल व्याख्या करते हुए वह अपने भूले मन को बार-बार बहलाना चाहती है।—'प्रणय! प्रेम! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश पुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं। अपनी ओर से प्रकाश की कोई भी किरणें नहीं। तब वही, केवल वही! हो पागलपन, भूल हो, दुःख मिले।

प्रसाद की भाषा एवं शैली पर विचार करते हुए हमने देख लिया कि कवि के सामने पूर्व भारत के विषय ने भाषा तथा शैली को अपने ही रूप में ढाल लिया। कुछ स्थलों के स्वगत-कथन साधारण पाठक का पौराणिक नाट्यशास्त्र के दृष्टिकोणों को ध्यान में रखने के कारण अस्वाभाविक से लगेंगे। हमारा निजी विश्वास है कि कवि की कला को उसके अपने आदर्शों एवं मापदंडों की कसौटी पर रखकर देखने से ही उसकी योग्यता-अयोग्यता का उचित निर्णय हो सकेगा। प्रसाद ने अपनी भाषा एवं शैली की दुरूहता में स्थल-स्थल पर सदैव यही कहा है कि वे नाटकों की रचना अशिक्षित वर्ग के लिये नहीं करने जा रहे हैं। यह वह रंगमंच नहीं है जहाँ रिक्शे वाले और रोलर खींचने वाले मजदूर भी दो आने टिकट का सदुपयोग कर अश्लील पारसी नाटकों के थिरकनों पर मंत्रमुग्ध होकर 'वाह' कर घर लौट जायँ। यहाँ रसिक विद्वज्जनों का ही प्रवेश है। इसीलिये नाटक को रस-काव्य मानकर ही देखना आलोचकों के लिए भी अधिक समीचीन होगा। प्रसाद की शैली पर जो दुरूहता एवं अस्वभाविकता का दोष लगाया जाता है, वह इस दृष्टिकोण से निराधार प्रमाणित हो जाता है। रस मर्मज्ञ छिछले सम्वाद पसन्द नहीं करते, उन्हें ऐसे विषय एवं संवाद चाहिये जिनकी मस्ती में डूबकर वे कुछ देर झूम सकें। ज्ञान तंतु को बाहरी ठोकर मारकर उसे उत्तेजना प्रदान करना यहाँ नाटककार का कर्त्तव्य नहीं है; वह सम्पूर्ण तंतुओं को पूर्ण रूपेण झंकृतकर पाठकों के हृदय पर चिरस्थायी एवं अमिट प्रभाव छोड़ देना चाहता है। लोग बार बार आन्दोलित हो सोचें, हाँ चीज थी एक !!

———

५

"ध्रुवस्वामिनी"

प्रसाद के प्रौढ़ नाटककार ने हिन्दी संसार को 'ध्रुवस्वामिनी' का अंतिम दान देकर बिदा ले ली। इसके पहले के प्रकाशित नाटक अपने साथ यदि चन्द्रमा की ज्योत्स्ना लिए हुए थे तो साथ ही उसका कलंक भी। 'ध्रुवस्वामिनी' में हमें एक ऐसे सृष्टि कर्त्ता से साक्षात्कार हुआ जिसने पूनो की चाँदी तो दी ही साथ ही उस शुभ्रता द्वारा अन्य दोषों को भी धो-पोंछकर अपने ऊपर का कलंक हटा दिया। तभी हम इस अन्तिम नाटक को प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति कहने का साहस करते हैं। यह उनकी नाटकीय सृजनात्मक प्रतिभा का शीर्ष विन्दु है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में अपने दोषों का परिहार किया था। प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी में। यहाँ प्रसाद का अनुभवी नाटककार प्रकट हुआ है—वह जो झाड़ियों से उलझता आया है गिरि कन्दरों की साँकरी गलियों से होता आया है, पर्वत की नीची-ऊँची टेढ़ी-मेढ़ी उपत्यका भी दिग्दर्शन करता हुआ उस चोटी पर पहुँच पाया है जहाँ से अपने मार्ग के सारे कष्टों, रुकावटों, दोषों को देख-देखकर अब सम्हल-सम्हलकर पैर रखने की उसमें क्षमता आ गयी है। अब तक उसने सृष्टि के सौन्दर्य का यदि अनुभव किया है तो मानवीय कष्टों को उसने परखा भी है, फूलों की सुगंधि अनुभव की है, उनका मुस्कान देखा है तो उन्हें तड़प-तड़पकर एक ओर

मुरझाकर गिरते भी देखा है। इस प्रकार के अनुभव से प्रसाद ने नारी की विवशता और व्यथा से परिपूर्ण जिस कृति को हमारे समक्ष रखा है उसकी महत्ता हम अनुभव ही कर सकते हैं, व्यक्त नहीं कर सकते।

नाट्यकला की दृष्टि से जब हम प्रसाद के नाटकों का अध्ययन करने लगते हैं तो ज्ञात होता है कि परीक्षाकाल के नाटकों के बाद 'विशाख' (१९२१ ई०) से हम जैसे प्रसादजी के साथ किसी पर्वत पर चढ़ रहे हैं। हमारे सामने की दुनिया निराली रहती है, हम अपनी संस्कृति अजीब पाते हैं। अजातशत्रु (१९२२) तक हमें शिखर मिल जाता है—वह चोटी जहाँ की लीला साधारण कोटि के मानव नहीं समझ सकते। जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६ ई०) तथा स्कन्दगुप्त (१९२८ ई०) हम प्रसाद को यात्रा समाप्त कर शैल शृङ्ग से उतरते देखते हैं। 'चन्द्रगुप्त (१९३१ ई०) तक आते-आते हमारे सामने की दूरी कम हो जाती है, धूमिल परदा हटता-सा मालूम पड़ता है और हम 'प्रसाद' को पहचानने से लगते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) में हम प्रसाद को अपने सम्पूर्ण प्रसादगुण के साथ पास-पास देखते हैं। अभिनय की दृष्टि से, नाट्यकला की दृष्टि से, सभी से, हम प्रसाद की इस कृति को सर्वगुणान्वित पाते हैं।

विकास की दृष्टि से देखने पर 'प्रसाद' के नाटकों में हम देखते हैं कि 'विशाख' तथा 'राज्यश्री' में 'सज्जन' और 'प्रायश्चित' का लेखक अपने बचपन की उछल-कूद छोड़कर थोड़ी गंभीरता के साथ प्रकट हुआ है। 'राज्यश्री' का प्रथम संस्करण प्रसाद की बाल रचना थी। 'उसमें नीरसता और सूखापन, कथनोपकथन की निर्बलता, कथानक सौष्ठव का

अभाव और चरित्रों का अविकसित रूप भी दिखलायी पड़ता है।' नाटक में नान्दी-पाठ, (केवल प्रथमावृति में ही), प्रशस्ति गान, अंधविश्वास से उत्थित अधिदैविक प्रेरणा का विनियोग तथा कथनोपकथन में पद्यमय भाषा का प्रयोग आदि पौराणिक नाटकीय परम्परा के छाप लगे हुए हैं, जिनका आगे के नाटकों में एक-एक कर परिहार किया गया है। 'अजातशत्रु' के कथनोपकथन में पद्यमय भाषा का अभाव है। अंकों में कमी की गई है जिससे प्रसाद का रूढ़िवादी नाटककार अब लुप्त होकर नवीन प्रसाद के बढ़ने का प्रशान्त मार्ग दिखा देती है। फिर भी रसों के सम्बन्ध में यहाँ भी दोष रह ही गए हैं। वीर के साथ शान्त का समावेश है। शान्त को नाट्य रस माना ही नहीं जाता। अभिनय की दृष्टि से 'अजातशत्रु' प्रसाद के सभी नाटकों में दुर्गम समझा जाता है 'स्कन्दगुप्त' में प्रसाद ने नाट्यशास्त्र के बताये प्रयोगों पर अपनी नाटकीय धारा बहायी है। वस्तु तत्व, चरित्र-चित्रण, संवाद तथा देश काल का चित्रण इसमें अति सूक्ष्मता से किया गया है। भारतीय परम्परा के अनुरूप ही रस सिद्धान्त का समावेश किया गया है। 'प्रसाद' का यही नाटकीय रूप 'ध्रुवस्वामिनी' तक जाते-जाते अपनी सीमा पर पहुँच गया है। फिर भी प्रसाद का कवि यहाँ अति तीव्र होकर नाटक की स्वाभाविकता पर आघात करता है। चरित्रांकन की दृष्टि से भी इस नाटक में कोई नवीनता नहीं। पर हाँ, इसमें नाटकीय सक्रियता आद्योपांत जाग्रत रही है और इसका मुख्य कारण द्वन्द्व या संघर्ष है।

'चन्द्रगुप्त' के कथानक को चार अंकों में बाँधने की चेष्टा की गई है नाटक में बहुत से दृश्य 'खोगीर की भरती' मात्र हैं। उन्हें यदि एकदम निकाल भी दिया जाय, तो नाटक के कथानक

पर आघात नहीं पहुँचता। जैसे, प्रथम अंक का तृतीय दृश्य, द्वितीय अंक का पाँचवाँ, छठाँ, सातवाँ और आठवाँ दृश्य और तृतीय अङ्क का प्रथम-दृश्य चतुर्थ अंक यदि सम्पूर्ण हटा दिया जाय तो भी भयानक के विकाश में बाधा नहीं पहुँचती। इतना ही नहीं, एक-एक अंक में चौदह एवं सोलह दृश्य भी उचित नहीं मालूम पड़ते। कथनोपकथन की दृष्टि से नाटक में शिथिलता आ गयी है। स्वगत-भाषणों की भरमार है और वे भी बहुत लम्बे-लम्बे! प्रथम अंक के सातवें, तीसरे अंक के छठें और द्वितीय दृश्यों में चाणक्य, पर्वतेश्वर तथा चन्द्रगुप्त के स्वगत भाषण विशेष लम्बे हो गए हैं। वीर रस और शृङ्गार रस का सम्मिश्रण अच्छा हुआ है।

'ध्रुवस्वामिनी' में तीन अङ्क हैं और प्रत्येक अङ्क में एक-एक दृश्य। सारा कथानक इन्हीं अङ्कों में विभाजित है और प्रत्येक अङ्क की घटनाएँ एक स्थानीय हैं। प्रत्येक दृश्य पूर्ण है और कथा प्रसंग को प्रवाहित करने में संलग्न है। कोष्ठकों में नाटकीय निर्देश इतने विस्तार से दिए गए हैं जिनसे अभिनय करने में सहूलियत होती है तथा स्थान एवं वेश, विषय-सम्बन्धी कोई भी ज्ञातव्य बातें अप्रकट नहीं रहती।[1] रंगमंच का जितना ध्यान प्रसाद को 'ध्रुवस्वामिनी' में रहा है उतना 'स्कन्दगुप्त' में और न 'चन्द्रगुप्त' में ही अभिनय करने के लिए यहाँ दो पर्दे ही पर्याप्त हैं—एक शिविर का दूसरा दुर्ग का। नाटक में संवाद अपने औचित्य और सौन्दर्य के लिए आदर्श बनकर आए हैं। कथनोपकथन पूर्ववर्ती नाटकों जैसा पद्यात्मक

[1] देखिये 'ध्रुवस्वामिनी की नाट्यकला' स्तम्भ में 'नाटकों में रंगमंच की अनकूलता।'

शैली में न होकर सरल, सुबोध, व्यवहारिक गद्य-शैली में है। अप्रासंगिक तथा फालतू संवादों या दृश्यों का अवतरण नहीं है और एक भी दृश्य हटा देने से कथानक में एक गहरा गड्ढा बन जाता है। साधारणतः वार्तालाप में स्वाभाविकता लाने के लिये खंडशः उत्तर-प्रत्युत्तर का व्यवहार किया गया है। कहीं भी संवाद अधिक विस्तृत या दुर्बोध नहीं हैं। इसके अतिरिक्त दलितवर्ग के कथनोपकथन में तीव्रता से वेग का समावेश है। इससे नाटक में ओज के साथ-साथ रगमंचीय प्रभावोत्पादन शक्ति आ गयी है। यहाँ चरित्रांकन की भी नवीनता स्पष्ट है। कहीं भी पात्रों के प्रकृति की विशेषता सूचित करने के लिये प्रसादजी को घटना को विस्तृत नहीं करना पड़ा है। नाटक की क्रियात्मक धारा में बहते पात्र की जैसी मनोवृत्ति, जैसी प्रवृत्तियाँ हुई हैं तदनुरूप उसके आवरण को देखकर हमारे सामने उसका मस्तिष्क स्पष्ट हो गया है।

सम्राट् समुद्रगुप्त के निधन के पश्चात् चन्द्रगुप्त अपने ज्येष्ठ भाई की मर्यादा का ख्यालकर अपना सारा राज्याधिकार रामगुप्त के हाथों में सौंप देता है। वास्तविक राज्य का अधिकारी तो वही पिता द्वारा निर्वाचित था, परन्तु कुछ तो लोक-सम्मान के हेतु और कुछ भ्रातृ-प्रेम के नाते भाई की राज्याधिकार-लिप्सा देखकर वह अपने अधिकार का त्याग कर देता है। विलासी रामगुप्त राज-काज चलाने में सर्वथा असमर्थ और अयोग्य प्रमाणित होता है। चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी को भी अपनी प्रेयसी बनाकर फिर उसके विलास में सहयोग नहीं देने के अपराध में बन्दी बना देता है। दिन रात हिजड़े, गूँगे, बौनों तथा उश्रृंखल दासियों के बीच रहकर ध्रुवस्वामिनी

अपने भूत के सुनहले या वर्तमान के अन्धकारमय जीवन तथा भविष्य के स्वप्नों की भुलभुलैया में पड़कर अपनी दिनचर्या बिताती है। अपमान और अवहेलना के कारागार से मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ने में वह संलग्न है। चेष्टा करती है, पर स्वर्ण-पिंजर से भागने का मार्ग अवरुद्ध पाती है यौवनावस्था में विवाह की जो लालसा रहती है, प्रेम सूत्र में बँधकर उसकी अरुणिमा से अपने को नहलाने की जो उत्कंठा होती है, उससे वह बंचित नहीं थी। धर्म को साक्षी देकर उसका विवाह रामगुप्त के साथ हुआ, पर उसकी आशाओं की लता कभी हरी न हो सकी। उसका पति अपने को मद्यप और क्लीव से कुछ अधिक नहीं प्रमाणित कर सका। इस भीषण परिस्थिति में, इस घटाटोप अँधियाले में चन्द्रगुप्त के सिवा उसको और कोई अवलंब नहीं दिखलायी पड़ा। उसे मालूम हो जाता है कि चन्द्रगुप्त के हृदय में भी उसके प्रति कोमल भावनाएँ हैं, फिर उसमें एकाकार होने को, उसके सम्पूर्णत्व को पाने को, वह विकल हो, अधीर हो दौड़ पड़ती है। रामगुप्त अब सतर्क हो जाता है। उसकी प्रत्येक गतिविधि को संदिग्ध दृष्टि से देखता है। अत्याचार की कहानी लम्बी होती जाती है, कारागार की सीखचें घनी होती जाती हैं, नियंत्रण का वेग बढ़ता जाता है। महादेवी को इधर से ठेस लगती है, दिल का दरवाज़ा एकबारगी झन्नाके से बन्द कर लेती है। प्रेम की धारा में प्रतिक्रिया (reaction) होती है, वह अपने अनुकूल ढालुये मार्ग पर दौड़ पड़ती है। रामगुप्त की कापुरुषता, ममता तथा चंद्रगुप्त की वीरता, एवं ममतादि से ध्रुवदेवी का हृदय चंद्रगुप्त की ओर आकृष्ट होता जाता है। प्रेम वृद्धि पाता जाता है। बाहर से दाह है प्रतारणा है, भीतर आग है, टीस है, जलन

है—और इन दोनों विरोधी धाराओं के बीच है ध्रुवस्वामिनी का दृश्य !

ठीक इसी अवसर पर शक आक्रमण होता है। राजाधिराज रामगुप्त का सारा शिविर शक-सैनिकों से घिर जाता है। संधि की बातचीत होती है और शकराज रामगुप्त से अपने सामन्तों के लिए स्त्रियाँ माँगने के साथ ही अपने लिये ध्रुवस्वामिनी की भी शर्त रखता है। रामगुप्त अपने मंत्री शिखर स्वामी की मंत्रणा से संधि का घृणित प्रस्ताव स्वीकार कर लेने में ही अपने जीवन की रक्षा का अच्छा उपाय देखता है। गुप्तकुल के राजा की इस हीन अवस्था को तथा अपने पति की अकर्मण्यता को देखकर ध्रुवदेवी का मन क्षुब्ध हो उठता है। चन्द्रगुप्त भी गुप्तकुल की लक्ष्मी (तथा अपनी प्रेयसि) के इस अपमान को बरदाश्त न कर स्वयं ध्रुवदेवी का वेश बना कर शकशिविर में जाने को उद्यत होता है। ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त के इस उत्सर्ग से मुग्ध हो उसके साथ ही अपने भाग्य का निबटारा कर देना अधिक खुशी की बात समझती है। शिखर स्वामी एक ही पत्थर से दो-दो चिड़ियों का शिकार होता देख रामगुप्त से दोनों को साथ-साथ शकशिविर में भेजने की मंत्रणा देता है। फलतः दोनों साथ-साथ शिविर में उपस्थित होते हैं। वहाँ चन्द्रगुप्त की वीरता के कारण सारा खेल ही उलट जाता है। चन्द्रगुप्त के साथ द्वन्द्वयुद्ध में शकराज की मृत्यु होती है और शकसेना पर विजय पाकर चन्द्रगुप्त के सामन्त उसी को अपना राजा चुनते हैं। उनके सामने समुद्र गुप्त के वे वचन थे जिनसे उन्होंने चन्द्रगुप्त को उसके गुणों से प्रसन्न होकर राज्य का उत्तराधिकारी चुना था। परिषद की बैठक होती है। शिखर स्वामी पहले तो कुछ बाधा उपस्थित

करता है फिर परिस्थिति को अपने अनुकूल न देखकर चन्द्रगुप्त का साथ दे देता है। चन्द्रगुप्त राजा चुन लिया जाता है। सभी दिशाओं से अपने को असमर्थ तथा निराश पाकर रामगुप्त, चन्द्रगुप्त की हत्या करने पर उतारू हो जाता है। पीछे से आक्रमण करता है पर बीच ही में एक सामंत द्वारा उसकी मृत्यु हो जाती है। इस परिषद् में ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से सम्बद्ध-विच्छेदकर चन्द्रगुप्त से पुनर्विवाह करने की व्यर्थ-सम्मति मिलती है और ये ही सम्राट्-सम्राज्ञी बन गुप्त-साम्राज्य के राज-सिंहासन पर बैठते हैं।[1]

ध्रुवस्वामिनी को लेकर ही नाटक की रचना हुई है। नाटक की नायिका भी वही है तथा वह इतिहास प्रसिद्ध महिला भी है। अतः इस नाटक का 'ध्रुवस्वामिनी' नामकरण सर्वथा उपयुक्त है। इतना ही नहीं यदि नाटक की फल-प्राप्ति पर भी विचार किया जाय तो मालूम होगा कि सभी फल ध्रुवस्वामिनी के जीवन केन्द्र पर ही चक्कर काट कर पहुँचते हैं। ध्रुवस्वामिनी के जीवन में दो प्रश्न हैं—रामगुप्त के विवाह सम्बन्ध से मुक्ति तथा महादेवी पद की वास्तविक प्राप्ति। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण नाटक में इन्हीं दो फलों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील ध्रुवस्वामिनी अंत में उन्हें प्राप्त करती है। चन्द्रगुप्त इसमें साधक बनता है। शकराज को बाधक न समझकर रामगुप्त को वास्तविक विरोधी समझना चाहिए। शकराज की अवतारणा तो बीच में 'ध्रुवस्वामिनी' के चरित्र के विकास तथा कोमा के चरित्र की पृष्ठभूमि के रूप में हुई है और बीच में ही उसकी समाप्ति भी हो जाती है। वह प्रासंगिक चरित्र है।

[1]देखिए 'परिशिष्ट।'

आधुनिक नारी समस्या के सुलझाव का प्रयत्न ही प्रसादजी को इस नाटक में अभीष्ट था। आज के मोक्ष तथा वर्त्तमान नारी की हीन अवस्था का सजीव प्रकटीकरण एवं सफल प्रतिनिधित्व ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में हो जाता है। अतः नाटक के केन्द्र को ही पुस्तक का शीर्षक बनाने में प्रसादजी कदापि किसी दोष के भागी नहीं।

'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक में मुख्य तत्व, नारी की, हीन स्थिति ही है नाटककार का यह कर्त्तव्य है कि नाटक के मुख्य वस्तु से वह प्रारम्भ में ही पाठकों का परिचय करा दे। ध्रुवदेवी के अन्तर में जो वेदना का तूफान उठा है, अपमान और प्रतारणा की जो कचोट समाई हुई है तथा आगे आने वाले अपने तथा अपने प्रेमी के संकट के जो दृश्य उसके मस्तिष्क से ऊबयूब हो रहे हैं। उन्हीं को लेकर नाटक का आरम्भ होता है। इस टीस के कारण को लेकर रामगुप्त के मन में सदा द्वन्द्व चलता रहता है। वह भी कुछ निश्चित नहीं कर पाता। 'जगत की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजा' पति-पत्नी, राजा रानी का जीवन इन्हीं प्रश्नों में उलझा रहता है। इस उलझन को और दृढ़ बनाने के लिए शिखर स्वामी शकराज के संधि सम्बन्धी प्रस्ताव को लेकर आता है। इसके पहले ही हिजड़े तथा बौने द्वारा नाटक के भविष्य में होने वाली घटनाओं का परिचय दिलाया जाता है। इन सभी प्रश्नों को कुछ कुछ सुलझाने, महादेवी के दुःख में समवेदना दिखाकर कुछ मरहम पट्टी करने के लिए चन्द्रगुप्त का अवतरण होता है। यहीं आगे का कार्यक्रम निश्चित हो जाता है और प्रथम अङ्क अपनी भव्यता लिये समाप्त हो जाता है।

द्वितीय अंक में विरोधी दल (वह दल जिसकी पराजय

दिखाना नाटक के अन्त में नाटककार का ध्येय है) का परिचय दिया जाता है। शकदुर्ग के भीतर की बातें हम द्वितीय अंक में देखते हैं। स्नेह की प्रतिमा, शांति की दूतिका, शकराज के प्रणय की भिखारिन, कोमा अपनी अनुरागमयी कोमल भावनाओं के साथ आती है। उसके साथ ही रतन का इच्छुक, राजनीतिक रोप में नयी की आहुति देने में तत्पर शकराज आकर उसकी भावनाओं पर एक ठेस लगा देता है। खिंगल आकर ध्रुवदेवी के आगमन की सूचना देता है, शकराज प्रमत्त हो स्वागत का आयोजन करने लगता है। इस समय उसे गुरू का आना भी बुरा लगता है। और जाने-अनजाने उन्हें भी नष्ट कर देता है। यहाँ एक ओर कोमा भविष्यवाणी-सी करती है। अमङ्गल का अभिशाप, अपनी क्रूर हँसी से दुर्ग को कँपा देगा और सुख के स्वप्न विलीन हो जायँगे, और दूसरी ओर मिहिरदेव उसे सावधान करते हैं—'वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है ? शकराज इस धूमकेतु की चाल से भयभीत होता है और ठीक इसी समय ध्रुवस्वामिनी तथा उसी के वेश में चन्द्रगुप्त उसके कमरे में प्रवेश करते हैं। ये मानों शकराज के लिये धूमकेतु ही बनकर आते हैं। इससे नाटक में एक चमत्कार-सा मालूम पड़ता है। शकराज की मृत्यु होती है और रक्ताक्त कलेवर सामन्त कुमारों का जयनाद करते हुए प्रवेश होता है।

तीसरा अंक, प्रथम दो अंकों से अधिक महत्वपूर्ण है। आरंभ में जो प्रश्न उठाये गये हैं जिन उलझनों की सृष्टि की गई है उनका सुलझाव, तीसरे अंक में अकाट्य प्रमाणों द्वारा दिया गया हो। पहले से यह प्रश्न चला आ रहा था कि वास्तविक

राज्य का अधिकारी कौन है ? और यदि प्रजा चाहे तो अयोग्य राजा को पदच्युतकर उसके स्थान पर योग्य राजा को बैठा सकती है या नहीं ? रामगुप्त अपनी अयोग्यता के साथ अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहता; चन्द्रगुप्त प्रजा की आँखों में आदर्श योग्यता का प्रतीक बन गया है। शकशिविर के बाहर शकराज का शव ले जाते समय निरपराध मिहिरदेव तथा कोमा के साथ अन्य शकों की हत्या सामंतों को रामगुप्त की ओर से भड़का देती है। सभी की राय से रामगुप्त पदच्युत किया जाता है और चन्द्रगुप्त राजा निर्वाचित होता है। दूसरा प्रश्न है कि यदि धार्मिक व्यवस्था में कालुष्य लक्षित हुआ और उससे किसी का जीवन संकटमय हो तो उसमें संशोधन न्याय सम्मत है या नहीं ? इस अङ्क का अन्तिम भाग इसी प्रश्न का उत्तर है। चन्द्रगुप्त के राजा चुने जाने पर भी ध्रुवस्वामिनी का प्रश्न अटका ही रहता है और जब तक पुरोहित धर्मशास्त्र की आज्ञा से मोक्ष की अनुमति नहीं देता तब तक ध्रुवस्वामिनी को फल प्राप्ति नहीं होती। इस परिषद तथा धर्माधिकारी की आज्ञा होने पर रामगुप्त अधिकारच्युत बनाया जाता है और ध्रुवस्वामिनी को दोनों फलों की प्राप्ति होती है।

'ध्रुवस्वामिनी' का आरम्भ और अन्त अत्यन्त सजीव एवं प्रभावोत्पादक हुआ है। नाटक के आरम्भ में प्राकृतिक दृश्यों का प्रतीक उपस्थितकर जिस तरह ध्रुवदेवी का प्रवेश हुआ है वह अति नवीन एवं आकर्षणमय है। इसके बाद कथानक में विकास होता जाता है, कौतूहल की मात्रा बढ़ती जाती है। जहाँ प्रथम अङ्क की समाप्ति हुई है वहीं उत्कण्ठा अपने प्रकर्ष पर पहुँच गयी है। द्वितीय में इसका वेग अवश्य कुछ धीमा मालूम पड़ता है।

इसी तरह प्रत्येक अङ्क का प्रारम्भ जिस तरह गंभीर तथा महत्वपूर्ण हुआ है उसी तरह उनकी समाप्ति भी हुई है। इससे प्रत्येक अङ्क खंडशः अपने में पूर्ण मालूम पड़ते हैं। ऐसी परिपूर्णता प्रसाद के अन्य किसी नाटक में नहीं आई है। सम्पूर्ण अङ्क में प्रश्नों की जो शृंखला चली है उसका यथोचित नपा-तुला उत्तर उसके अन्त में मिल जाता है। इससे पाठक का मन ऊबने नहीं पाता। एक रहस्य का जब तक उत्तर मिलता है तब तक दूसरा वृहत् रहस्य आरम्भ हो जाता है इस तरह नाटक के अन्तिम अङ्क तक यह कुण्डल कौतूहल शान्त नहीं होता। प्रत्येक अङ्क के आदि और अन्त में हम एक संतुलित (balanced) बुद्धि की सक्रिय देखते हैं और इसीलिए उनका संतुलन उचित रीति से हो पाया है।

इस नाटक में प्रधानता वीररस की है। शृंगार रस सहायक रूप में आया है। शांत और रौद्र गौण हैं। नाटक में उत्साह स्थायी भाव है जो ध्रुवस्वामिनी के प्रत्येक व्यापार में प्रत्यक्ष है। इसके उद्गम का कारण रामगुप्त है अतः वह आलम्बन है। शकराज उद्दीपक है। वही संधि प्रस्ताव भेजता है जिससे रामगुप्त की दुर्बलता प्रमाणित हो जाती है! रामगुप्त की निरपराध शकहत्या भी इसी उद्दीपन विभाव के भीतर है। क्रोध और उग्रता का समावेश ध्रुवस्वामिनी तथा चन्द्रगुप्त एवं गौण रूप में मन्दाकिनी में भी वर्तमान है।

'कुमार-सम्भव' के प्रथम श्लोक में कालिदास ने हिमालय का परिचय इस प्रकार दिया है—

'पूर्वापरौ तोय निधीऽवागह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।'

प्रसादजी भी इसी तरह प्राच्य तथा पाश्चात्य संस्कृति समुद्रों में मज्जन करते हुए दोनों के बीच में मानदण्ड स्वरूप स्थित रहे। उनकी समस्याएँ, उनकी विचारधाराएँ दोनों से प्रभावित हैं, दोनों की समष्टि हैं। पाश्चात्य नाटककारों में यथार्थवाद की धूम है। इनके नाटकों में समस्या का व्यवधान रहना है। इसमें डर यह रहता है कि समस्या के सुलझाव में ही लेखक की सारी शक्ति खतम हो जाती है, फिर नाटकत्व उपेक्षित हो जाता है। भारतीय नाटककार नाटक को अभिनेय बनाने की पूर्णतः चेष्टा करते हैं। प्रसाद ने जहाँ नाटक को अभिनयोपयोगी बनाने की कोशिश की है वहाँ उसमें एक आधुनिक युग की महत्वपूर्ण समस्या का भी समावेश कर दिया है।

प्रसाद ने इसमें समस्याएँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम नारी समस्या है—'समाज, कुटुम्ब और कर्मकाण्ड एवं धर्मशास्त्र में स्त्री का क्या स्थान है; सिद्धान्त तथा व्यवहार में कहाँ और क्यों अंतर आता है; इस अंतर के कारण लोक मंगल विधान में क्या व्याघात पड़ जाता है ?'

दूसरी समस्या राजनीति संबंधी है—राजा के अत्याचारी, अयोग्य, क्लीव हो जाने पर राज्य के अधिकार एक सुयोग्य व्यक्ति बनाने का अधिकार प्रजा या राज्य के अधिकारी वर्ग को है या नहीं ? इन प्रश्नों का विवेचन ऊपर हो चुका है। यहाँ हमें यही कहना है कि प्रसाद ने केवल इन समस्याओं को उपस्थितकर हमें अँधेरे में भटकाते रहने देने का परिहास नहीं किया है वरन् तर्क का आश्रय ग्रहणकर उन्होंने इनका यथासंभव उत्तर देने की भी चेष्टा की है। प्रसाद ने प्रथम रहस्य का उत्तर दिया 'मोक्ष' (Divorce) या पुनर्विवाह से एवं दूसरे रहस्य का उत्तर दिया पुनर्निर्वाचन तथा परिवर्त्तन से।

६

'ध्रुवस्वामिनी' का ऐतिहासिक पृष्ठाधार

इतिहास केवल घटनाओं एवं व्यक्तियों की ही सूची नहीं, अपितु मानवीय भावनाओं का भी चित्र है। सम्राट् केवल शासन का एक कठोर पुर्जा ही नहीं होता जिसका चित्रण ऐतिहासिक पुस्तकों में मिलता है। उसका व्यक्तिगत जीवन भी होता है, हृदय भी होता है और उसमें एक अंश ऐसा भी होता है जो मानवीय है—जहाँ उसमें और सामान्य मानव-हृदय में कोई भेद नहीं। ऐतिहासिक तथ्यों में सन्निहित इन्हीं भावनाओं द्वारा काव्य की सृष्टि होती है। युग-जीवन के उस पक्ष में, जिसे इतिहासज्ञ देख नहीं पाता, कवि की प्रतिभा आलोड़ित होती है। जहाँ तक जीवन की शुष्क परिधि है वहाँ तक इतिहासिकों की सीमा है—बाद (परोक्ष) के जीवन के सम्बन्ध में वह मौन हो जाता है—और यहीं से कवि का काव्य प्रारंभ होता है।

ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे एक उज्ज्वल प्रकाश छिपा रहता है। यह वह ज्योति है जिसकी ओर दौड़ने के लिए, वर्तमान हलचल से मुँह मोड़कर अतीत के अपूर्व चरित्रों का दर्शन करने के लिए, जीवन को परिपुष्ट एवं ठोस बनाने के लिए; हमें उन घटनाओं की सहायता लेनी पड़ती है जो समय और स्थल की दूरी को अपनी गोद में छिपाकर हमें वही दृश्य दिखलाने का विश्वास दिलाते हैं जिन्हें हम अपने दैनिक जीवन में नहीं देख पाते। इतिहास की उस सूखी पगडंडी के अंतराल में प्रवाहित

अमृतमयी धारा को—जो उसकी आत्मा ही कही जा सकती है—परखने का गुरु-कार्य सभी से नहीं हो सकता। जाति के जीवन-संस्थान के लिए देश का गौरवमय इतिहास कितना लाभकारी होता है इसे प्रसाद के शब्दों में देखिए—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है,.......क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें पूर्ण संदेह है।........मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।'[1]

उस गौरवमय लोक ने कितने ही भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया। गुप्तजी के काव्यों की अधिकांश सामग्री 'हिंदू काल' से ही गृहीत है, प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, आदि अन्य साहित्यकारों का भी वही क्रीड़ाक्षेत्र है। प्रसाद ने अपने नाटकों में भारतीय स्वर्णयुग का चित्रणकर उन्हें युग विशेष का सर्वोत्तम प्रतिनिधि ही बना दिया है। उनमें प्रदर्शित आदर्शों ने हमारी प्रायः ढहती हुई संस्कृति में फिर से जान फूँक दी है। इतिहास हमारे सामने अब परंपरागत निर्जीव पत्थर का टुकड़ा नहीं रहा, वह वाग्शक्ति लिए अब अपनी कहानी स्वयं कहने को जागरुक है।

प्रसाद द्वारा इतिहास की बिखरी सामग्रियों का एकत्रीकरण

प्रसाद के गम्भीर व्यक्तित्व को केवल कल्पना की ऊँची उड़ान में व्यस्त रहने वाले भावुक कवि का ही साहचर्य नहीं

[1] 'विशाख' की भूमिका।

प्राप्त है, उसे अन्वेषक के साथ-साथ प्राप्त घटनाओं को एकत्रित करने वाले पटु सहकारी का भी सान्निध्य प्राप्त है। माली ने भिन्न-भिन्न पुष्पों को, भिन्न-भिन्न दिशाओं की वनस्थली से खोजकर अस्तव्यस्त बिखेर नहीं दिया है; उसने बिखरी सामग्रियों को एकत्रितकर उन्हें एक रूप में पिरोकर एक सुन्दर जयमाल की रचना कर दी है। प्रसाद में तर्क-संगत एकत्रीकरण की यही आकुल चेष्टा दीखती है। 'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक संस्थान में प्रसाद का यही प्रयास लक्षित होता है। समुद्रगुप्त की मृत्यु और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के बीच का काल इतिहास में लुप्त-प्राय है। बहुत दिनों तक यह काल तमिस्राच्छादित ही था। पर सन् १९२३ में संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि एवं नाटककार विशाख-दत्त लिखित 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक को कुछ अंश 'शृंगार प्रकाश' एवं 'नाट्य-दर्पण' आदि साहित्य शास्त्र की पुस्तकों से ऐतिहासिक पत्रिकाओं में उदधृत हुए—इनसे जो बातें प्रकाश में आई उनसे इतिहासकारों में काफ़ी हलचल मच गयी। उनके संदिग्ध एवं असंदिग्ध तथ्यों द्वारा विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता की गहरी छान-बीन की। कालान्तर में उत्तर-प्रत्युत्तरों द्वारा यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया कि उक्त अंधकार-काल में रामगुप्त नामक एक अशक्त सम्राट् गुप्तों के गौरववंश में उत्पन्न हुआ था जिसने ध्रुवदेवी नाम्नी अनुज-वाग्दत्तापत्नी से सम्बन्धकर उसे शकशिविर में चन्द्रगुप्त के साथ वेशपरिवर्तनकर भेजा था। इस सम्राट् का राजत्वकाल तत्कालीन ऐतिहासिकों की दृष्टि में गौण स्थान पाने के कारण सदा उपेक्षित रहा। यह काल राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं होने के कारण इतिहास में अपना स्थान नहीं बना सका। गुप्तकाल की गौरवमयी वंशावलि में ऐसे पतित

सम्राट् को स्थान देना शायद तत्कालीन गुणमुग्ध विद्वानों को अनुचित-सा लगा होगा इसीलिए रामगुप्त का उल्लेख न कर उस काल को अन्धकारपूर्ण छोड़ देना ही उन्हें युक्तियुक्त लगा।

प्रसाद ने जो कुछ भी इधर-उधर से सामग्री पायी उसे एक क्रम में बाँधकर इतिहास के उस अन्धकारयुग को आलोकमय बनाने की सफल चेष्टा की। संभवतः विशाखदत्त में प्राप्त ध्रुवदेवी के ज्ञान के साथ शिलालेखों आदि से मिली सामग्री को मिलाने का लोभ संवरण करना प्रसाद के लिये असंभव हो गया होगा—साहित्य एवं इतिहास को एक नयी वस्तु से वंचित करना प्रसाद को अभिष्ट नहीं था। इसी प्रयत्न के फल स्वरूप 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना हुई।

अप्रामाणिकता के संदेह

विद्वानों ने 'ध्रुवस्वामिनी' सम्बन्धी ऐतिहासिक छानबीन में पाँच संदेह बतलाये हैं। वे निम्नाङ्कित हैं :—

(क) 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक ही स्वयं ऐतिहासिक नहीं।

(ख) कुछ स्मृतियों में की गई मोक्ष की चर्चा सभी वर्णों पर एक समान हो लागू हो सकती है—ऐसा किसी प्रकार भो नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(ग) इस बात का कोई भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच में रामगुप्त नाम का कोई सम्राट् था चाहे वह मद्यप एवं विलासी ही क्यों न हो।

(घ) किसी भी साधारण बुद्धि को यह मान्य नहीं कि प्रतिष्ठित महाराज समुद्रगुप्त की पुत्रवधू को पत्नी बनाने के लिए एक अत्यन्त साधारण शक सरदार

मगधाधिपति से, चाहे वह कितना भी नीच एवं क्लीव क्यों न हो, माँगने की हिम्मत करेगा।

(ङ) आश्चर्य तो यह है कि चन्द्रगुप्त स्वयं ही वेश-परिवर्तनकर शकशिविर में क्यों नहीं जाता। इस आपत्तिजनक परिस्थिति में मगध की सम्राज्ञी को भी खींचने में कौन-सी बुद्धिमानी है?

प्रामाणिकता के प्रमाण

इस नवीन ऐतिहासिक वितर्क की जाँच के लिए हमें थोड़ी देर के लिये नाटक के पात्रों पर ध्यान केंद्रित करना पड़ेगा। नाटक में तीन व्यक्ति ही मुख्यतः ऐतिहासिक हैं; गुप्तवंश के भावी विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) उनके अग्रज रामगुप्त एवं उनकी वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवदेवी जिनका विवाह रामगुप्त से हो गया है। चन्द्रगुप्त की ऐतिहासिकता में विद्वानों में कोई मतभेद नहीं। चन्द्रगुप्त की रानी के रूप में ध्रुवदेवी का सम्बन्ध भी इतिहाससम्मत है। यथा 'परम भागवतस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यमुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्य......।'[1] और 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पत्नी महाराजा श्री गोविन्दगुप्त माता ध्रुवस्वामिनी।'[2] अब रही रामगुप्त के पत्नीरूप में ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध की बात। इसकी जिज्ञासा तृप्ति के लिए अभी तक मुख्य चार प्रमाण ही उपलब्ध हुए हैं। वे क्रमशः निम्नाङ्कित हैं—

(क) 'नाट्य-दर्पण' में साहित्यकार ने कई उद्धरण विशाख-

[1] Copper's Inscriptionam Indicum, 3/10. 11. 12.

[2] वैशाली में प्राप्त मुद्रक (Archeological Survey Report, 1903-4)

दत्तविरचित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक से दिया है। पाठकों के लाभार्थ वे नीचे दिए जाते हैं—

(i) यथा देवी चन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽके प्रकृती नामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीं संप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधनार्थ पिपासु प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नेपथ्य: कुमार चन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते।

एतत्स्त्री वेषधारिचन्द्रगुप्त बोधनार्थममहितमपि विशेषण साम्येन ध्रुवदेव्या स्त्री विषयं प्रतिपन्नम् इति।

(ii) आर्ति: खेदो व्यसनमिष्टाद्विरोध: यथा देवी चन्द्रगुप्ते राजा चन्द्रगुप्तव्याह अत: स्त्री वेषनिहनुते चन्द्रगप्ते प्रियवचनै: स्त्री प्रत्ययाद ध्रुवदेव्यागुरुमनुसंतापरुपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्त:।

(iii) इयमुन्मतस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकार गोपन परस्य मनोजशत्रुमातस्य राजकुल गमनार्थ निष्क्रमसूचिकेति।

(iv) यथा देवी चन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह इयमिति सा देवी तिष्ठति येषा।

रम्या चारति कारिणी च करुणाशोकेन नाता दशाम् तत्कालोपगतेन राहु शिरसागुप्तेव चन्द्रकला।

वयु: कल्वीव जनोचितेनपरितेनानेव पुस: सत: लज्जा कोप विषाद भीत्यरतिभि: क्षेत्रीकृतातात्म्यते। अत्र ध्रुवदेव्याभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चय:।[१]

[१] Asiatic Journal, 1926.

'मुद्राराक्षस' के प्रसिद्ध रचयिता की यह कृति प्रायः अपूर्ण ही प्राप्त है अतः और भी विस्तीर्ण रूप से प्रकाश नहीं पड़ता। फिर भी जितनी सामग्री अभी उपलब्ध है, उसी से हमारे आलोच्य विषय का काम निकल जाता है। विशाखदत्त का समय विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है। हमें इस प्रकार सहज ही ज्ञात हो जाता है कि 'मुद्राराक्षस' की कथावस्तु नाटककार के जीवन से सम्भवतः एक सहस्र वर्ष पूर्व की ही एक ऐतिहासिक घटना पर निर्मित है। यह प्रसंग आज संदेह एवं भ्रांति का विषय नहीं है। अतः यह भी संभवतः उचित ही जान पड़ता है कि 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की भी कथावस्तु का निर्माण कवि ने किसी १०० वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक घटना के आधार पर ही किया होगा। हमारा ऐसा अनुमान है कि उस काल का कवि अपने से कुछ ही समय पूर्व की घटना को पूर्णतः ऐतिहासिक एवं सुदृढ़ मानकर ही अपनी कला का विषय बनाया करता होगा—जिस घटना को प्रायः सभी लोग (तत्कालीन) जानते होंगे उसमें अनावश्यक उलटफेर करने की उसे क्या आवश्यकता पड़ती? और विशेषतः जब दो पात्र—चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी—हमारे जाने हुए हैं, तब ऐतिहासिकों को भी कवि द्वारा वर्णित घटना को सत्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होती।

(ख) उपरोक्त तथ्य की खोज के सिलसिले में स्वर्गीय श्री राखालदास बन्धोपाध्याय और डाक्टर अनन्त सदाशिव आल्तेकर—इन दो विद्वानों को—इस मत की पुष्टि में और भी प्रमाण मिल गये। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में राजकवि ने (जिनका समय ७वीं शताब्दी है) एक स्थान पर लिखा है—

'अरि पुरे च परकलत्र कामुकं कामिनीवेश गुप्तः चन्द्रगुप्त शकपतिमशासयत् ।' नवीं शताब्दी में उत्पन्न प्रसिद्ध अद्वैतवादी श्री शंकराचार्य ने इसका भाष्य करते हुए लिखा—

'शकनामाचार्य शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थ्यमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेश जन परिवृतेन व्यापादितः ।'

यहाँ इतना तो एकदम स्पष्ट है कि वाण समय तक उक्त घटना में लोगों का विश्वास था और पुष्ट प्रमाणों के रहने के कारण ही कवि ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में उसका उल्लेख किया था। इस प्रकार नवीं शताब्दी तक यह घटना ऐतिहासिक सिद्ध होती है।

(ग) काव्य-मीमांसाकार महाकवि राजशेखर का अवतरण विक्रम की दसवीं शताब्दी में होता है। ये कन्नौजधीश महाराज यशोवर्मा के राजकवि थे। अपनी पुस्तक में एक स्थल पर उदाहरण के प्रसंग में आपने उक्त घटना का उल्लेख किया है—

दत्वारुद्धगतिः खसाधिपतये देवीम् ध्रुवस्वामिनीम् ।
यस्मातखंडित साहसो निववृते श्री रामगुप्तो नृपः ॥
तस्मिन्नेव हिमालये गुरु गुहाकोणत्ववणत्किन्नरे ।
गायन्ते तव कीर्ति केय नगर स्त्रीणां गणैकीर्तियः ॥

इस चर्चा से भी उक्त प्रसंग की कम पुष्टि नहीं होती।

(घ) इन उल्लेखों के अतिरिक्त ११वीं शताब्दी के धाराधीश महाराज भोज कृत 'शृंगार प्रकाश' में भी इस घटना का निर्देश मिलता है। सम्राट् ने वहाँ स्पष्टतया लिखा है—

'स्त्रीवेशनिह्नवः चन्द्रगुप्तः शत्रोस्कन्धावारमलिपुरं शकपात्

बधायागमत्। यथा देवी चन्द्रगुप्ते शकपतिना परंकृकमापादितम् रामगुप्त रामगुप्तस्कान्धवाराम—अनुजिवृत्तुरुपायन्तराऽगोचरे प्रतिकारे निशिबेताल साधनम्, अध्यवस्यन् कुमार चन्द्रगुप्त आत्रेयेशा विदकेन उक्त:।'

इन चार प्रमाणों द्वारा जो कुछ भी तथ्य हमारे हाथ लगते हैं उनके आधार पर ही 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना प्रसादजी ने की है। ये प्रमाण जिन उद्गमों (sources) से मिले हैं उन्हें हम कल्पना एवं जनश्रुति मात्र कहकर टाल नहीं सकते। इसी प्रसंग में आवेषकों को एक और सुदृढ़ प्रमाण मिला जिससे ध्रुवस्वामिनी विषयक ऐतिहासिकता की और भी पुष्टि होती है। दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट वंश में उत्पन्न सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) द्वारा प्रचारित ७९४ (शकसंवत्) का एक ताम्र पदक मिला है जिसे विद्वानों ने संजन- तामपत्र कहकर उल्लेख किया है। इसमें राजा ने अपनी दानशीलता की डींग हाँकते हुए एक गुप्तवंशी दानी पर ताना मारा है—

हत्वाभ्रातरमेव राजमहादेवीं स दीनस्तथा।
कोटिमलेखयन् किलकलौदाता स गुप्तान्वयः॥'

इस कथन में किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, फिर भी 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु के प्रकाश में देखने पर यह स्पष्टया ज्ञात होता है कि (अपनी महत्ता दिखाने के लिए कम से कम अपनी ही समानता का गुप्तवंशी सम्राट् का विवेचन करने के लिए ही) उक्त राजा ने सम्भवत: चन्द्रगुप्त का उल्लेख किया हो! इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि अमोघवर्ष को यह पूर्णतया ज्ञात था कि गुप्तवंश में एक ऐसा भी शासक हो चुका है जिसने भ्रातृवध के पश्चात् उसके राज्य एवं पत्नी को हस्तगत

कर लिया। अतः संजान ताम्रपत्र द्वारा 'ध्रुवस्वामिनी' की प्रामाणिकता पुष्ट हो जाती है।

अन्य आपत्तियों का निराकरण

अब दूसरी आपत्ति पर आइए। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के वैवाहिक सम्बन्धों एवं मोक्ष-आदि का विचार ऐतिहासिक न होकर सामाजिक एवं धार्मिक है। इस विषय का विशद विवेचन अन्यत्र हो चुका है।[1] अतः इस प्रसंग को वहीं देखें।

तीसरी आपत्ति के सम्बन्ध में यह निस्संकोच ही कहा जा सकता है कि अभी तक पुरातत्व के क्षेत्र से कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं मिल सका है जिसके बल पर समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच के अंधकार काल में रामगुप्त की सत्ता मान ली जाय। लेकिन इसीलिए इसे बिल्कुल असत्य ही नहीं माना जा सकता। संभव है भविष्य में इसकी पुष्टि में प्रमाण मिल जायँ। जिस प्रकार पुष्ट प्रमाणों के अभाव में भी रामायण एवं महाभारत की घटनाओं को हम असत्य नहीं मानते उसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी की कथा पर हम क्यों संदेह करें जिसके लिखित प्रमाण उसके कुछ ही दिनों बाद के उपलब्ध हैं? फिर भी समुद्रगुप्त के एक लेख[2] से इतना तो स्पष्ट है कि उसके कई भाई थे। उपरोक्त ताम्रपत्र से भी यही बात सिद्ध है। तब यह क्यों नहीं मान लिया जाय कि चन्द्रगुप्त का भाई रामगुप्त ही था! बिना मुद्रा एवं लेख के जब हम गोविन्दगुप्त, पुरगुप्त, घटोत्कच-गुप्त आदि की मान्यता स्वीकार की जाती है तो रामगुप्त बिचारे

---

[1] देखिए 'ध्रुवस्वामिनी' का युग शीर्षक स्तम्भ।

[2] एरण का लेख—'गृहेषु मुदिता बहु पुत्र पौत्र सक्रामिणी कुल वधू व्रतिनि निविष्टा।'

ने क्या अपराध किया है कि हम उसे उपेक्षित समझते रहें !! यदि गुप्तशासकों के लेखों पर ध्यान दिया जाय तो पता लगेगा कि उनकी वंशावली में किसी भी सम्राट् के भाई की चर्चा नहीं है, हाँ पितामह प्रपितामह आदि कहीं भी छोड़े नहीं गए हैं। यही कारण है कि रामगुप्त का नाम कहीं भी अभिलिखित नहीं है। समुद्रगुप्त की प्रशस्तियों में केवल एक ही स्थल पर चन्द्रगुप्त के साथ का काचगुप्त का उल्लेख है। कुछ विद्वानों का कहना है कि राम शब्द ही घिसकर काच हो गया है।[1] जो भी हो, इन सम्भावनाओं को देखते हुए रामगुप्त का अस्तित्व हम कल्पित नहीं मान सकते।

चौथी आपत्ति के मूल में एक साधारण मनोवैज्ञानिक भ्रांति है। किसी विराट् नामधारी व्यक्ति की तौहीनी के लिए हम प्राय: उससे जघन्यतम कृत्य करवाते हैं जिससे वह हमारी सत्ता स्वीकार करे। उसे जितना ही गुरुतर पेंच में डाला जायगा उतनी ही हमारी महत्ता सिद्ध होगी। जिस शत्रु को पिता ने पराजित कर दिया था, यदि फिर उसी शत्रु को विजयी पिता के पुत्र को पराजित करने का सुवर्ण अवसर मिल गया तो यह सोचना कि वह उसे कड़ी शर्तों पर सन्धि करने के लिए बाध्य नहीं करेगा, एक उल्टी खोपड़ी का ही विषय कहा जायगा। और जब शत्रु जानता है कि प्रतिपक्षी भीरु है तब तो उसकी माँग और भी गुरुतर हो जायगी। विजयी चाहे जिस किसी शर्त के लिए भी विजीत को बाध्य कर सकता है और समुद्रगुप्त जैसे पराक्रमी सम्राट् के पुत्र को पराजित करने वाले का गौरव तो तभी बढ़ेगा जब वह अधिकाधिक मर्यादा पूर्ण करने का प्रस्ताव रखे। ऐसी परिस्थिति

[1] श्रीभण्डारकर का मत।—कॉपर्स इन्स्क्रिपशनम् इण्डिकम्। ३।२

में यदि शकराज ने ध्रुवस्वामिनी की शर्त रखी तो आश्चर्य कहाँ है? और जब इतिहास इसका साक्षी है[1] कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को दुबारे विजय करनी पड़ी थी, तब तो रामगुप्त के हार की बात प्रायः निश्चित ही हो जाती है।

पाँचवा संदेह चंद्रगुप्त द्वारा स्त्रीवेश परिवर्तनकर ध्रुवस्वामिनी के साथ शकशिविर में प्रस्थान से सम्बंधित है। हमें ऊपर के उल्लेखों द्वारा इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं होता। और प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी के बीच जिस कोमल भाव की सृष्टि की है उसे ध्यान में रखते हुए ध्रुवस्वामिनी के इस कथन में हमें कुछ भी विपरीतता नहीं दिखाई पड़ती।—"कुमार यह मृत्यु और निर्वासन का सुख, तुम अकेले ही लोगे ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है यह जानते हो? तुमसे और मुझसे एक साथ ही छुटकारा! तो फिर वही क्यों न हो? हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ। और भी एक विनोद, प्रलय का परिहास देख सकूँगी। मेरी सहचरी! तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेश ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का?"—इन तर्कों की उपस्थिति में सन्देह कहाँ? प्रसाद के कवि ने ऐसे ही प्रसंगों में इतिहास की विच्छिन्नता को भावुक बंधनों द्वारा संयमित किया है।

इस प्रकार की जाँच-पड़ताल से न तो हमें कोई बात इतिहास विरुद्ध जान पड़ती है और न असम्भव तथा दुरूह कल्पना की उपज ही। यदि थोड़ी देर के लिए इसे एकदम कल्पित ही मान लिया जाय तो भी काव्य के क्षेत्र में हम उसे अस्वाभाविक नहीं कह सकते। सत्य तो यह है कि हममें से अनेक

[1] मेहरौली और उदयगिरि के लेख।

व्यक्ति प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक घटनाओं को देखकर एकबारगी ही भड़ककर पहले उन्हें इतिहास की कसौटी पर खरी सिद्ध कर लेने के पश्चात् ही काव्य रूप में ग्रहण करना चाहते हैं। पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में भी कुछ यही बात होती रही है। आलोचकों ने उसकी प्रामाणिकता की छानबीन में उसके काव्यगत सौन्दर्य की ओर भूलकर भी नहीं देखा। किसी ने उसे जाली कहा, किसी ने चंदबरदाई तक का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया और बहुतों ने उसे समकालीन रचना न मानकर पृथ्वीराज के बहुत पीछे की रचना ठहराई। पुस्तक के मूल तत्वों, कविता की बारीकियों एवं चन्द तथा जल्हण की शक्ति से वे प्राय: अपरिचित ही रहे। कुछ यही बर्ताव प्रसाद के नाटकों के साथ भी आलोचकों द्वारा किया जा रहा है। प्रसाद के नाटकों को काव्य के रूप में ही ग्रहण करने का आग्रह सहृदयों की ओर से किया जाता है। इतिहास सम्बन्धी 'प्रसाद' के निजी विचारों[1] की पृष्ठभूमि में यदि हम उनके नाटकों का अध्ययन करेंगे तो अधिकाधिक प्रसाद को समझ पायेंगे।

प्रसादजी का लक्ष्य, उनके नाटकों में वर्णित घटनाओं में, किसी अतीत की गौरवमय गाथा का यथातथ्य चित्रण करना उतना नहीं है जितना प्राचीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर खेलते-कूदते पात्रों के कार्य कलापों द्वारा आधुनिक सामाजिक समस्याओं का समाधान करना। इस दृष्टिकोण से प्रसाद के नाटकों को परखने का कम प्रयत्न किया गया है। इसका प्रणयन उस युग में हुआ था जब नारी अपने पैरों पर उठने की स्वत: चेष्टा कर रही थी। नारी जागरण के इस युग में

---

[1]देखिए प्रथम परिच्छेद का 'प्रसाद की ऐतिहासिकता।'

आर्य समाजादि ने विधवा विवाह का जोरदार आन्दोलन उठाया। इसी सामाजिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ध्रुवस्वामिनी सामाजिक परंपरा के गतानुगतिक प्रणाली से विद्रोह करती है। इस प्रसंग को चित्रित करने के लिये इस घटना से उपयुक्त अन्य कथावस्तु मिलनी दुर्लभ थी।[1] किसी वस्तु के ऐतिहासिक हो जाने से ही एक साकांक्षी मोह एवं गौरवमय अतीत को स्वतः ग्रहण करने की उत्कंठा हो जाती है। अतः आधुनिक समाज की गुत्थियों को सुलझाने के लिए जब इतिहास का आश्रय लिया जाता है तब पाठकों पर अचूक प्रभाव पड़ता है। प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक उपयोग का यही महत्व है।

---

[1]यहाँ यह कहना आवश्यक नहीं होगा कि 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के उद्धरणों के प्रकाश में आने पर सं० १९८५ में श्री राखालजी ने इसी कथानक के आधार पर 'ध्रुवा' नामक उपन्यास की रचना की जो बँगला के मासिक 'प्रवासी' में सं० १९८८ में मुद्रित हुआ।

७

पात्रों का चरित्र-चित्रण

मानव-चरित्र की सूक्ष्मपर्यवेक्षण के साथ, मौलिक एवं वैचित्र्यपूर्ण अभिव्यक्ति ही चरित्र-चित्रण है। मानव हृदय की भावनाओं, उसके सिद्धान्त, आदर्श तथा उसकी प्रकृति का प्रकटीकरण उसके आचरण से ही होता है। कहानी या नाटक में इसी आचरण के समस्त पहलुओं को सँजोकर किसी के जीवन के समग्र अवयवों का जो व्यापक रूप प्रकट किया जाता है वही चरित्र-चित्रण है। इस विश्व के रंगमंच पर हम मनुष्यों को हँसते-गाते,. खेलते-कूदते पाते हैं, उनके सम्यक् ज्ञान के लिए हमारे अन्तर का व्यक्ति कभी लालायित नहीं होता। पर वे ही जब साहित्य का अंग बन जाते हैं तो कल्पनाओं की वारिधारा में उत्थित, उनके जीवन की विभिन्न पहलुओं का अस्तित्व यद्यपि क्षणिक ही रहता है तथापि उनकी स्मृति चिरस्मरणीय बन जाती है। हम सहसा उन्हें भूल नहीं पाते। उनके भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व, चाहे उनमें गुण हों या दुर्गुण, क्रोध हो या क्षमा, नम्रता हो या कटुता उन्हें हमारे सामने अपने इन्हीं गुण अवगुणों के कारण अमर बनाए रहते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि साहित्य के शीशे में चरित्र की जो छवि प्रतिबिम्बित होती है वह अमिट होती है, धुले नहीं धुलती।

नाटकों में तीन विभिन्न प्रकारों द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण

किया जाता है। पहला वह जिसमें दो पात्र किसी तीसरे पात्र के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हैं, दूसरा वह जिसमें दो पात्रों के वार्तालाप द्वारा ही उनके गुण-दोष की विवेचना की जाती है। पात्र किसी घटना को किस दृष्टि से देखता है यह प्रदर्शितकर नाटककार यह दिखला देता है कि अमुक पात्र की मनःस्थिति अमुक श्रेणी की है। घटनाओं से प्रभावित पात्रों की प्रतिक्रिया देखकर हम उनकी मनःस्थिति समझ सकते हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' में हमें चरित्र-चित्रण की जो प्रणाली मिलती है, वह पूर्वधारा के अनुकूल नहीं। एक सफल चरित्र-चित्रण के लिए पात्र के जीवन में कठिनाइयाँ, उलझनें, अपेक्षित हैं। इन उलझनों में जितनी ही गति रहेगी और उनका निवारण जितनी ही कुशलता से वह करता जायगा उतना ही उसका चरित्र विकसित होता जायगा। अंग्रेजी में यह उक्ति प्रसिद्ध है "The success of a dramatist depends not in putting his characters on the straight road of life but on cross-roads." प्रसाद-स्कूल के पूर्ववर्ती (बदरीनाथ) भट्ट-स्कूल के नाटकों में यह संघर्ष है ही नहीं और है भी तो अस्पष्ट। प्रसाद-स्कूल में यह संघर्ष ही मुख्य है और नाटककार प्रारम्भ में ही इस पर संकेत कर देता है। नाटक का कथानक इस प्रकार विकसित होता है कि यह संघर्ष, यह द्वन्द्व बढ़ता जाता है, पात्र झाड़ियों से उलझता है, दलदल में फँसता है और इसी उलझन की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ विविध नाटकीय घटनाओं और प्रसंगों के रूप में दिखलाई पड़ती हैं। इसीलिए प्रसाद-स्कूल के नाटकों में हम कथानक को मिश्रित उलझा हुआ पाते हैं।

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद का नाटककार अपने सतेज रूप में प्रकट हुआ है। चरित्र-चित्रण समरस और वास्तविक जीवन से अति निकट है। पहला अंक ध्रुवस्वामिनी और दूसरा कोमा की विवशता, नारीत्व की पराजय और जीवन तथा हृदय को पुरुष द्वारा समझे हुए क्रीड़ाक्षेत्र का सजीव चित्रण है। तीसरे अंक में नारी, अबला के कूचे से यात्रा करती हुई सबला के राजमार्ग पर आ गयी है। उसमें हुँकार है, जाग्रति है, अपना भव्य रूप है। हमारे आज के युग की नारीभावना और नारी-चित्रांकन का प्रतिनिधित्व प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' करती है। युग-युग से नारी के प्रति पुरुष की जा प्रताड़ना, उत्पीड़न, पराजय की कहानी चली आ रही है, नारी को पीसने की, कुचलने की, उसके अधिकारों को छीनकर उसे अपने से बाहर करने की, पद-पद पर भर्त्सना करने की जो व्यवहारिक व्यवस्था की गई है और शास्त्र द्वारा जो उसके हृदय में कील ठोकने की, छटपटाने देने की, तड़प-तड़पकर केवल उच्छ्वास-भर फेंकने की आज्ञा दिलायी गई है, उसके प्रति प्रसाद की इस लघु नाटिका की नायिका मानवीय आधार पर प्रबल विरोध का झंडा खड़ा करती है। वह देखती है कि जितनी ही वह विश्व के लिए—मानव के लिए—उसकी विडबना और अहंकार के लिए, तिलतिल कर गलती है उतने ही उसके घाव गहरे होते जाते हैं, उसकी हाथों में पड़ी बेड़ियाँ कसती जाती हैं; और तभी तो वह बिस्मिल के कूचे से उचककर क़ातिल के तबके में आ जाना चाहती है। जो कल तक पुरुष की शिकार थी, वह आज खुद शिकारी पुरुष नहीं तो समान-पुरुष अवश्य बन ज़ाना चाहती है।

'आँचल में दूध' और 'आँखों में पानी', अर्थात् मातृत्व की भावना और वेदना—इन्हीं दो सूत्रों के ऊपर नारी का जीवन प्रवाहित होता रहता है। इन्हीं दो महान् भावनाओं के कारण नारी नारी है, महान् है। उसकी अपनी सत्ता है। ध्रुवस्वामिनी के साथ वेदना का सम्बन्ध चोली-दामन-सा है। रूदन तो उसके जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन गया है। नारी अपनी इच्छा, सुख, सभी को त्यागकर जब 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' के साथ पुरुष के समक्ष उपस्थित होती है तो उसके त्याग से भी उसके शरीर का मूल्य अधिक आँका जाता है। इसीसे उसके हृदय में मूक व्यथाओं की काली घटाएँ सदा घिरी रहती हैं। इसके कई कारण हैं। वह जो उसके अंतर में है, जो कुछ वह सोचती है, उसे कह नहीं पाती। जो कहना भी चाहती है, उसे कर नहीं पाती। यदि करना भी चाहती है, तो उसके लिए मार्ग अवरुद्ध पाती है। कैदी को जेल से बाहर निकलने का सुरंग नहीं मिलता। नारी स्वातंत्र्य के इस युग में भी वह वासनापूर्ति का साधन-मात्र है। अवहेलित है। पुरुष के अविश्वास की शिकार है।

ध्रुवस्वामिनी को उसके पिता ने चन्द्रगुप्त को सौंप दिया, वाग्दान हो गया। वह चन्द्रगुप्त द्वारा अपने पिता के पास से लायी गई। उसके हृदय में चन्द्रगुप्त की सलोनी मूर्त्ति पैठ गयी। आखिर नारी थी, दिल ही तो था, झुक गई, किसी को दे डाला। पर उसकी बेबसी में, चन्द्रगुप्त की सुधर्मपरता, सज्जनता से, त्यागपरायणता से उसका बड़ा भाई रामगुप्त राज्य हस्तगत करने के साथ ही उसके मानस की एकमात्र मराली से भी विवाह कर लेता है। भ्रातृभक्त था वह, लोक का भय था उसे, बड़े भाई की इच्छा थी, चन्द्रगुप्त बेचारा चुप रह गया। दो हृदय

भारतीय धार्मिक बंधनों से अलग कर दिये गये, बीच में मोटी दीवार बना दी गई।

ध्रुवस्वामिनी दिल से चाहती थी कि वह चन्द्रगुप्त को भूल जाय—राजा की कड़ी आज्ञा थी और उसके हृदय में भी लोक-लज्जा की भावनाएँ थीं—पर वह वैसा कर नहीं पाती। शायद वह कर भी पाती, पर रामगुप्त (पुरुष) का 'अहं' उसे ऐसा करने से रोकता है। विवाह करने पर भी वह उस पर कठोर शासन रखता है। बंदी-सी हालत है उसकी। करती क्या? व्यथाओं की झुटमुट में पड़ी कराहती उसकी स्त्रीयोचित भावनाएँ विवशताओं के कारण पुरुष के चरणों पर लोटने को बाध्य हो ही जाती हैं। प्रथम अंक के आरम्भ में ही पर्वत को लक्ष्य-कर वह कहती है—"सीधा तना हुआ अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं को इसके पैरों में लोटना चाहिए न!"

जब रामगुप्त न ध्रुवस्वामिनी को पत्नी बना सका और न उसका प्रेम ही पा सका तो उसने उसके स्वतंत्र प्रेम को, नीरव हृदय को, एक झटका दे कुचलकर सीमित करना चाहा। शायद वह सोचता था कि इस प्रकार चन्द्रगुप्त से दूर-दूर रखकर, अपनी कठिन यंत्रणा का विष पिलाकर वह उसे—नारी को—अपने वश में कर सकेगा। पर, मूढ़ पुरुष! क्या तू नहीं जानता कि नारी 'कुसुमादपि सुकुमार' भी है और 'वज्रादपि कठोर' भी। रामगुप्त ठहरा क्लीव, अतः उसमें नारी के प्रति पुरुष का जो सहज आकर्षण होता है उसका भी अभाव था। वह तो उसकी विवशताओं से लाभ उठाना चाहता था। और जहाँ कहीं भी मौका मिला है उसने उसे सदा फटकारा, हमेशा उपेक्षित किया। बिचारी नारी के सामने

एक ओर दावाग्नि है तो दूसरी ओर बड़वाग्नि। यदि पुरुष अशक्त, रोगी, विदेश पर्यटक या क्लीव हो गया हो तो उसे धैर्य, आचरण, नियम से रहना पड़ता है; और यदि स्वयं उसी में कोई दोष हुई तब तो वह अक्षम्य ही ठहरी। परिवार में किसी की उस पर सहानुभूति नहीं रहती। पतिगृह में नारी—ध्रुवस्वामिनी—का कोई रक्षक नहीं, कोई सहायक नहीं। उसे ऐसा व्यक्ति कोई भी नहीं मिलता जो उसके आँसुओं को अपनी समवेदना की थपकियों से सुला सके। चन्द्रगुप्त, जिस पर उसकी अटूट श्रद्धा थी, विश्वास था, प्रेम था; उसके पास तक नहीं फटक सकता था और स्वयं उसी पर अनेकों षडयंत्र रचे जा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में विवश नारी भला क्या करती? उसके हृदय की आँखों में कैशोर से लेकर यौवन के प्रौढ़ता प्राप्त करने तक की जो व्यथा, जो वेदना प्रतिबिंबित हो रही थी और जिसके साथ प्रेम का सत्य जीवन के मंथनकारी संघर्ष में निचुड़ धीरे-धीरे एकत्र हो रहा था, वह बरस पड़ता था उसकी उच्छ्वासों में, उसकी मूक गिरा में, अव्यक्त टीस में। नई नवेली आई बहू की नूपुरों की रुन-झुन में जिस रुपहले क्षणों का दृश्य दिखाई पड़ता है, यौवनोचित, विवाहोपरान्त होने-वाली जिन उमंगों की कसमसाहट से वह दबी रहती है, उसके प्रतिकूल परिस्थिति को पाकर जितनी खीझ, कसक, टीस उसके दिल से निकलती होगी वह अकथनीय है। जो कुछ वह सोचती है, कहती है, करती है, उसमें खीझ है। टीस है। आह है। व्यथा है। करुणा है।

लेकिन इतना होने पर भी उसका धैर्य सदा उसके साथ रहता है। लेकिन कब तक? मनुष्य की चित्रवृत्ति सदा एक-सी नहीं रहती! प्रथम अङ्क में जब हिजड़ों और बौनों के परस्पर

आमोद्-प्रमोद के समय रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी, शकराज के पास भेंट-रूप में जाने का आदेश पाती है तब भयानक नारी की आत्मा तिलमिला उठती है। बाहरी रोड़े कंकड़ों के बीच उसके अपनत्व की जो क्षीणकाय सरिता प्रवाहित हो रही थी, वह प्रबल हो, ऊपरी स्तर को भेदकर बाहर आ गयी है उसका अधिकार-ज्ञान जाग्रत हो उठा है। नारीत्व का अपमान सहन सीमा से परे पहुँच चुका है। वह पूछती है—"मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुखदुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है।" रामगुप्त बोलता क्या कुछ उसके पास इसका उत्तर भी हो! वह सिंहनी चीत्कार उठती है—"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशुसम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे बेंच भी नहीं सकते हो।" जब रामगुप्त का 'पुरुष' अब भी चुप रहता है, तब ध्रुवस्वामिनी का पत्नीत्व बोल उठता है—"मैं केवल रानी ही नहीं स्त्री भी हूँ।" पर 'निर्लज्ज ! मद्यप !! क्लीव !!!' रामगुप्त ने इसका उत्तर दिया—"तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो? अब नारी के विवशता की पराकाष्ठा हो जाती है। नारीत्व गलित हो जाता है। अभिमान चूर-चूर हो जाता है। आत्मा के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। उसने अपने दिल को सिल बना लिया, अन्तर के रस को रिस और हाला को हलाहल। आत्माभिमान को रौंद डाला, नारीत्व से विदाई ले ली। रामगुप्त को अपने इरादे से विचलित होता हुआ नहीं देखकर वह कटार निकाल लेती है। यहाँ उसका 'हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-

सम्मान की ज्योति है।' रामगुप्त डरकर भाग जाता है। चन्द्रगुप्त सहसा प्रवेश करता है। लेकिन उसे 'अपने अपमान में निमग्न देखने का अधिकार किसी पुरुष को नहीं' है। अस्तु,

अन्त में यही निश्चय होता है कि ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त के साथ शकराज गृह में जाय। शिखरस्वामी ने इस प्रकार एक ही पत्थर से दो-दो शिकार करने चाहे थे, पर शकराज के शिविर में जाते-जाते कुछ दूसरी ही घटना घटती है। शकराज चन्द्रगुप्त के द्वारा मारा जाता है। चन्द्रगुप्त विजयी होता है और पुरोहित ध्रुवस्वामिनी से चन्द्रगुप्त के विवाह की धर्म आज्ञा देता है। इसके बाद रामगुप्त शकराज के सिंहासन पर बैठने को लालायित, राजाधिराज बनने की उमंगों में झूमता आता है, पर यहाँ 'रघुकुल की रीति' कुछ उलटी ही मालूम पड़ती है। परिषद् का आह्वान होता है और परिषद्, अनार्य, पतित, क्लीव रामगुप्त को राज्यच्युतकर चन्द्रगुप्त को राजा बनाती है।

ध्रुवस्वामिनी-चरित्र में यथोचित करुणा और नारी सुलभ कोमलता भी दर्शनीय है। इन्हीं की स्निग्धता उसे चन्द्रगुप्त को शकराज के शिविर में जाने से रोकती है—'नहीं, मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी। मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं।' पर हाँ, जब इसी करुणा के साथ रोष का सम्मिश्रण हो जाता है तब उसकी प्रतिक्रिया विचित्र-सी अवश्य हो जाती है। कोमा जब उससे अपने पति के शव की याचना करती है तब उसके हृदय का रोषपूर्ण व्यक्ति सहज ही पिघलना नहीं चाहता। इसीलिए जब तक कोमा ध्रुवस्वामिनी के हृदय-स्थित उस कोमल भावना को जाग्रत नहीं करती—जो प्रत्येक नारी में

समान रूप से वर्तमान है—तब तक उसे शव ले जाने की अनुमति नहीं मिलती। वह प्रार्थना करती है—"रानी, सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे जीवन में भी वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय-हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्वदान करने का उत्साह रखता है।" तब ध्रुवस्वामिनी को उसकी वाणी में अपने अन्तर की वाणी सुनाई पड़ती है और अब याचक की याचना अस्वीकार कर देना उसके वश की बात नहीं रहती।

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र का दूसरा पहलू उसकी नियतवादिता है। प्रसादजी के प्रायः सभी पात्र नियतिवादी होते हैं। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' हो या 'चन्द्रगुप्त', 'विशाख' हो या 'स्कन्दगुप्त'—सभी में हम नियति के स्मित को देखते हैं। ध्रुवस्वामिनी भी यदाकदा नियति की याद करती है; यथा, 'जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही' तथा 'नियति ने मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल छाया से मिला दिया हो।' इतना होने पर भी 'होइहैं सोई जो राम रचि राखा' पर उसका विश्वास नहीं। वह हाथ पर हाथ धरे बैठी नहीं रहती। उसके जीवन के आँगन में घुमड़ते बादल के टुकड़े ऐसे नहीं जो नियति के झोंकों से इधर-उधर उड़कर चले जायँ। वे तो सावनी फुहार दे उसे अपने जीवन में गतिशील करेंगे ही, तूफान उठे या बवंडर। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार से जीवक (राजवैद्य) कहता है—"नहीं महाराज, अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्मकुण्ड में कूद सकता हूँ; क्योंकि मुझे विश्वास है, जो होना होगा वह होगा ही, फिर

कादर क्यों बनूँ,—कर्म से क्यों विरत रहूँ !"[1] ध्रुवस्वामिनी के सामने भी कठोर कर्त्तव्य की विस्तृतभूमि है और उसी से होता हुआ उसका जीवन-पथ अपनी मंज़िल तक चला गया है जिसपर पैर रखकर उसे सम्हल-सम्हलकर अपनी यात्रा पूरी करनी है। उसमें एक विशेषता है। वह है, 'विदग्ध-व्यग्रता।' एक उत्तेजना है, एक हलचल और आकुलता है। उसके हृदय के भीतर या बाहर, चारों तरफ़ एक द्वन्द्व दिखायी पड़ता है, एक भीषण परिस्थिति में वह 'ऊब-डूब' रहती है। वह कहती है—'इस वक्ष में दो हृदय हैं क्या ? जब अंतरंग 'हाँ' कहना चाहता है तब ऊपरी मन ना क्यों कहला देता है ?'

ध्रुवस्वामिनी के प्रेमी हृदय की अनुभूति हमें प्रथम अंक में ही पूर्ण-रूपेण मालूम हो जाती है। समग्र नाटक में उसका चित्रण बुद्धि प्रधान मालूम होता है। आवेश की तीव्रता के कारण, प्रेम की प्यासी आत्मा की प्यास बुझाने के लिए, वह रामगुप्त तथा शिखर स्वामी के समक्ष ही चन्द्रगुप्त का आलिङ्गन कर लेती है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो, खोयी-सी वह उसे अपनी भुजाओं में कस लेती है। बाद में उत्पन्नमति होने पर 'उस एक क्षण के आलिंगन-सुख' की यादकर वह आत्मविभोर हो जाती है। तीसरे अंक में जब मंदाकिनी उसे 'भाभी' कहकर संबोधित करती है और बाद में भूल हो जाने के कारण क्षमा याचना करती है तब ध्रुवस्वामिनी का नीरव प्रेम बोल उठता है—"मंदा ! भूल से ही तुमने आज एक प्यारी बात कह दी। उसे क्या लौटा लेना चाहती हो ? आह, यदि वह सत्य होती ?" इन प्रेममय शब्दों में आहों का झमेला है, स्वप्नों की दुनिया !

[1] 'अजातशत्रु', पृष्ठ ४१ (प्रथम संस्करण)

कोमा

मिहिरदेव से शकराज ने धार्मिक शिक्षा पाई। कोमा उनकी पोष्य-पुत्री है। शकराज पर उसने अपने हृदय को न्यौछावर कर दिया, भविष्य प्रणय का सूत्रपात हो गया। 'कोमा में 'प्रसाद' ने नारीत्व की कोमलता के साथ-साथ दार्शनिक मधुरता 'प्राकृतिक साहचर्य, कोमल और सरस हृदय-भावनाएँ भी अंकत की हैं।' 'प्रसाद' की अन्य दूसरी रचनाओं की सभी विशेषताएँ मानों छन-छनकर अपने निखरे रूप में यहाँ आकर एकत्रित हो गई हैं।

यह सीमाप्रांतीय बाला अपनी मौज की बस्ती में अचानक युद्ध का कोलाहल सुनती है। वह प्रेम की उपासिका है और विश्व को उसी सुर में बाँधना चाहती है। वह नहीं चाहती कि जीवन के अमूल्य, सुनहले, दिनों में भी वही ले-दे, वही खींचतान, वही एक दूसरे पर छीटाकथी, वही रोना, वही आस, वही प्यास, वही खाना, वही सोना बना रहे। वह तो चाहती है कि दो क्षण ही सही हम केसर की क्यारियों में परिमल लदी पुष्प से भारविनत डालियों को देखें और जीवन के रस से दो घूँट ही सही पीएँ, जीवन का रस लूटें, सुनहले सपने देखें, सुरीले तराने सुनें। इसीलिए वह चाहती है कि युद्ध न हो—वह एक प्रेम की दुनिया बसाए जो युद्ध और मारकाट से अलग हो। लेकिन वह देखती क्या है? 'सब जैसे रक्त के प्यासे! प्राण लेने और देने में पागल! बसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं, ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है?' प्रेम-पूर्ण भावुकता उसके चरित्र की सबसे बड़ी विभूति है।

युद्ध की चाशनी की चाट से जिसका दिल भरता हो, वह भरे, कोमा इस गुलजार के बाजार से अलग ही रहना चाहती है। रक्त की रंगीनी से जिसके मुँह की लाली खुलती हो वह शौक से होली खेले; कोमा के लिये तो भाल पर रोली और हाथों में प्रेम की प्याली ही काफ़ी है। वह देखती है कि इधर दिमाग की तूती बोलती है, उधर दिल की बस्ती सूनी पड़ती है। शकराज युद्ध में लिप्त है। कोमा भी उसकी चिन्ताओं में हाथ बटाना चाहती है किन्तु उसके सामने तो जीवन-मरन का प्रश्न है। उसे इतनी फ़ुरसत कहाँ कि वह कोयल की कूक सुने, बसंत के अलस पवन का बहार लूटे। वह शकराज से आग्रह करती है कि 'संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे।' परन्तु मानव—उस पर भी राजा—से यह सब कब हो सकता है? उसका 'अहं' उसे ऐसा करने से रोकता है। कोमा सोचती है, 'अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्वपूर्ण देखने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है?' यहाँ कोमा की भावुकता में दार्शनिकता का योग है। वह पाषाणों के भीतर बहने वाले मधुर स्रोत की शीतल जलधारा की भाँति निर्मल और शान्तिमयी रहना चाहती है।

कोमा को जब यह मालूम हो जाता है कि राजनीतिक प्रतिशोध के लिए शकराज ने ध्रुवस्वामिनी को अपने लिए तथा अन्य स्त्रियों को अपने सामन्तों के लिए माँगा है तो उसके प्रेम में एक ठेस लगती है, एक आघात पहुँचता है। उसका हृदय उत्तेजित हो जैसे तिलमिला उठता है। एक ओर वह अपने पर अत्याचार देखती है, अपने संचित प्रेम पर कुठाराघात देखती है, दूसरी ओर ध्रुवस्वामिनी नारी पर विभीषि-

काओं का झकोरा भी। वह राजा से पूछती है—"मेरे राजा आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो? राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नहीं हो सकता!" लेकिन नारी के सौन्दर्य का जो नशा शकराज पर चढ़ा था, वह इन गिड़गिड़ाहटों की झाड़-फूँक से उतरने वाला नहीं था। कोमा मिहिरदेव के साथ जाते-जाते कहती है—'प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी।' उसके जीवन में इसी स्थल पर विवेक और मोह का कठोर संघर्ष दिखाई पड़ता है। यही स्थल उसके व्यक्तित्व का चरम उत्कर्ष है। मिहिरदेव इस मोह बंधन को तोड़कर मुक्त होने का आदेश देते हैं। इस पर वह व्यथित हो उठती है—"(सकरुण) तोड़ डालूँ पिता जी...ऐसी कठोर आज्ञा न दो।" इस अंतर्द्वन्द्व में मोह पर विवेक की विजय होती है और फलतः वह अपने पिता के साथ चली जाती है।

उसकी दयनीय दशा और भारतीय नारी का रूप तब प्रकट होता है जब शकराज की मृत्यु के बाद वह शव की याचना करने जाती है। उसकी इसी दैन्यपूर्ण याचना में स्त्रीत्व का शाश्वत रूप प्रकट होता है। इस स्थल पर सम्पूर्ण दार्शनिकता को पराजित करता हुआ अखंड नारीत्व जागरुक दिखलाई पड़ता है। शव मिलने के बाद, नारी की जो प्रतारणा उत्पीड़ना पुरुष द्वारा मिलती है और उस पर भी वह उसके चरणों को पकड़े रहती है, इसका दिग्दर्शन मन्दाकिनी के इन शब्दों में मिलता है—'स्त्रियों के इस बलिदान का कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है। अपने निर्बल और

अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुष के चरणों को पकड़ती हैं और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। तब भी यह बावली मानती हैं ?' इन शब्दों में युग-युग की नारी भावनाएँ संगृहीत हैं। एक खीझ के साथ वेदना जैसे उफन-उफनकर बाहर आ रही हो !

शकराज

पुरुष का जीवन कितना परिश्रमशील एवं आशङ्काओं से आबद्ध रहता है। वह आपत्तियों का, कठिनाइयों का, वीरता से सामना करता है। नारी उन्हें धीरता से सहन करती है। पुरुष का हृदय समुद्र की सतह है—उस पर ऊँचे-ऊँचे तूफ़ान उठते हैं जो कभी-कभी बड़े प्रलयकारी सिद्ध होते हैं। शकराज के पुरुषत्व की ऊँचाई पहाड़ के एक शिखर-सी है। वह अपने-सा विश्व में औरों को नहीं समझता। नियति पर उसे विश्वास नहीं, क्षमा पर उसकी श्रद्धा नहीं। रक्त सी होली खेलने में भी यदि सम्मान मिले तो उसे अपनाने में उसे हिचक नहीं, संकोच नहीं। इसलिए उसके सामने सदा 'जीवन-मरण का प्रश्न' लगा रहता है। उसके अनुसार 'सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के भय हैं। मैं तो पुरुषार्थ को ही सब का नियामक समझता हूँ। पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है।' इन्हीं भावनाओं से उत्तेजित होकर उसने रामगुप्त का मार्ग बन्दकर, विवशकर, अपने सम्मान के लिए ध्रुवस्वामिनी सहित अन्य स्त्रियों की भेंट माँगी। ऐसा करने में उसका हृदय तनिक भी विचलित नहीं हुआ, उसे नारी पर तनिक भी दया नहीं आई; इसका कारण यह था कि उसके पुरुषत्व पर सम्मान की बाग-

डोर इतनी कड़ी थी कि वह उसके बाहर झाँकने की कोशिश कर ही नहीं सकता था। इसी आत्म-तुष्टि के सुख-सपनों में भूलकर, उसने जो कुछ भी करने की ठानी, उसे उचित समझा। उसकी आँखों पर भ्रम के परदे पड़े थे, वह कुछ दूसरी बातें सोच नहीं सकता था। वह जानता था,

तावत् भयस्य भेतव्यं यावत् भयमनागतम्।
आगतम् तु भयम् वीक्ष्य नरः कुर्यात् यथोचितम् ॥'

और, इसीलिए वह कह उठा, 'मैं इस युद्ध के लिए उत्सुक तो नहीं था, मैं ही दिग्विजय के लिए नहीं निकला था। अब कठिनाइयों को देख मैं घबड़ाऊँ क्यों?' इसी ध्रुवस्वामिनी के मामले में वह कोमा से भी अपने प्रेम का हिस्सा खो बैठता है। ध्रुवस्वामिनी के सौन्दर्य का नाश तथा सम्मान का उन्माद उस पर इतना था कि उससे अपने धर्मगुरु को भी बुरा भला कहने में आगा-पीछा नहीं देखा गया। राजनीति में वह दूसरों को टाँग अड़ाते नहीं देखना चाहता। कहता है वह—'मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा हो।' इस पर जब मिहिरदेव राजनीति की असारता का मूल्याङ्कन करते हैं तो शकराज का राजत्व जाग उठता है, वह गरज उठता है, बस, बहुत हो चुका। आपके महत्व की भी एक सीमा होगी। आप अब यहाँ से नहीं जाते हैं तो मैं ही चला जाता हूँ।' शकराज इस पर विश्वास नहीं करता कि जिस प्रेम में तल्लीनता, तद्रूपता का परिमल नहीं वह प्रेम, मंगल का मूल नहीं, विश्व का शूल है। वह प्रेम को जीवन में अधिक महत्व नहीं देता। हाँ, यह एक चीज है, जो सभी के जीवन में धूप-छाया-सी लगी रहती है, बस। वह तो जानता है कि सम्मान के लिए खून की नदियाँ भी बह जायँ तो यह कोई

महँगा सौदा नहीं है। फिर कहाँ का प्रेम और कहाँ का प्यार! और उसकी इन्हीं भावनाओं को जब कोमा ठीक से पढ़ लेती है और देख लेती है कि शकराज के दिल से प्रेम की उम्मीद करना शोले की लपट में ठंढक की तलाश से कम मुश्किल नहीं हैं, तब वह अपनी राह अलग निकाल लेती है। पिता के साथ चल पड़ती है। यहाँ वह जीवन के उस मार्ग से, जहाँ भूत के खेद और विषाद के जल प्रलय ने भविष्य की पगडंडियों को मिटा दिया है, दूर है; वह उस राजमार्ग पर है जहाँ भूत के द्वन्द्व, प्रेम की पीड़ा और संघर्ष ने उसके जीवन का पथ सरल और प्रशस्त बना दिया है,—जहाँ पथिक को जीवन के अतीत ने जीवन का वास्तविक सत्य, प्रेम का वास्तविक पाठ पढ़ा दिया है। आज उसने जाना है कि निराशा के बीच आशा, संघर्ष के बीच शान्ति, प्रेम के बीच तल्लीनता ही जीवन का सत्य है। साधना से ही प्रेम की ग्रंथि में पुष्टता आती है यह आज ही उसने सीखना आरम्भ किया।

शकराज, धूमकेतु से होने वाले अमंगल से अंधविश्वास में विश्वास करता है। तभी वह कोमा से गुरु को मनाकर शान्ति की बातचीत करना चाहता है। उसको देखकर उसे एक अजीब भय हो गया है और ध्रुवस्वामिनी, चंद्रगुप्त के साक्षात्कार के समय धूमकेतु को देखकर वह व्याकुल हो जाता है। इसी व्याकुलता में उसकी हत्या भी हो जाती है।

रामगुप्त

रामगुप्त का चरित्र इसके बिल्कुल विपरीत है। इसका चरित्र पर्याप्त गिरा हुआ है। प्रसादजी ने इसके चरित्र द्वारा जिन परिस्थितियों की सृष्टि करनी चाही थी उसके लिए यह

सर्वथा उपयुक्त है। विलासी है वह, अविवेकी तथा निर्वीर्य भी। युवक होते हुए भी युवकोचित उष्ण रक्त की उसमें कमी है, मद्यप है वह; जीवन की कठिनाइयों से भागने वाला, सारहीन निस्तत्व प्राणी है। स्त्री क्या है? उसका मूल्य क्या है? प्रेम क्या है?—आदि बातों को समझने में वह सर्वथा असमर्थ है। नारी को वह केवल विवशता और व्यथा की प्रतिमूर्त्ति समझता है। उसके जीवन के तंतुओं को कुचलने में तोड़-मरोड़कर फेंकने में ही उसे एक अनिर्वचनीय आनन्द आता है। ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त से प्रेम करता देखकर वह उसके मनोभाव जानने के लिए खड्गधारिणी को भेजता है। उसे सदा एक प्रकार का खटका बना रहता है। 'जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है उसमें एक गंभीर तथा व्यापक रस उद्वेलित होता रहता होगा। वही तो...... नहीं, जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे?' उसके हृदय में इसी खटके की स्थिति से और ध्रुवस्वामिनी की उपेक्षा करने से भी, दोनों का गार्हस्थ्य जीवन सुखकर, सफल न हो सका। ध्रुवस्वामिनी को उसने सोने के पिंजड़े में रखा। उसे सुख का क्षणिक आभास भी न मिल पाया, जीवन सदा दुःख के अतल सागर में डूबा रहा। उसकी विवशताओं से रामगुप्त ने पूरा लाभ उठाना चाहा। और उसने उठाया भी "कतिपय वृद्ध परिवारों में जब छोटे बालक का विवाह किया जाता, या वर में किसी प्रकार की कमजोरी होती या कुछ क्लीवता के लक्षण पाए जाते हैं और इनका कुछ-कुछ परिचय उसके माता-पिता को होता है तब विवाह तो केवल नाक रखने के लिए कर दिया जाता किन्तु नववधु पर प्रारम्भ से ही कड़ाई की जाती है। उस पर लाँछन

लगाये जाते हैं और कुछ वर्षों के पश्चात् उस पर वन्ध्यापन की छाप अंकित कर दी जाती है।"[१] फलतः उसके जीवन में कभी आनन्द का स्वर गूँजता ही नहीं। रामगुप्त ने भी स्वयं क्लीव, निर्वीर्य होने के नाते आरम्भ से ही ध्रुवस्वामिनी को स्वर्ण-पिंजर में रखा। उस पर चंद्रगुप्त की आसक्ति-सम्बन्धी बातों को पापाचार की संज्ञा दी और इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी के हृदय—नारी के मर्मस्थल—पर कठोर आघात किये।

रामगुप्त आवारा है। उसे राज्य से कुछ मतलब नहीं। वह अपने मंत्री शिखरस्वामी पर ही निर्भर रहता है और इसी कारण से मंत्री का महत्व कुछ अधिक हो जाता है। रामगुप्त आवश्यकता से अधिक भीरु है। कायर है। कर्त्तव्यच्युत है। उसमें, ध्रुवस्वामिनी के कितने भी उत्तेजित करने पर पुरुषोचित भाव जाग्रत नहीं होते। इसका कारण शायद यह भी हो सकता है कि हिजड़ों और बौनों के संसर्ग से उसमें पुरुषत्व के भाव धीरे-धीरे लुप्त हो गए हों। और, जैसा कि हम देखते हैं, ऐसे ही दुर्बल, नीच मनुष्य, स्त्रियों तथा कमजोरों पर अधिकाधिक अत्याचार करते पाए जाते हैं। शकराज के प्रस्ताव पर कोई भी पुरुष—विशेषकर क्षत्रिय—रणभूमि में उसका उत्तर देने के लिए अवश्य लालायित हो उठता। पर रामगुप्त ने उस पर दाद ही दी, "ठीक ही है, जब उसके यहाँ सामन्त हैं, तब उन लोगों के लिए भी स्त्रियाँ चाहिए।" इसके सिवा उसे दूसरा मार्ग सूझता ही नहीं था। ध्रुवस्वामिनी अपने पति कहलाने वाले पुरुष की ऐसी धारणा सुनकर तिलमिला जाती है और उसके—'मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने

[१]नारी हृदय की अभिव्यक्ति, पृ० ५०।

वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके'—यह कहने पर, रामगुप्त ने जो उत्तर देकर अपनी नपुंसकता प्रदर्शित की वह भी दर्शनीय है—'तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर; किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबा नहीं सकता। तुम्हारी सुन्दरता—तुम्हारा नारीत्व अमूल्य हो सकता है। फिर भी अपने लिए मैं कितना आवश्यक हूँ,—कदाचित् तुम यह नहीं जानती हो।' अपने 'भेड़ से क्षुद्र जीवन' के लिए वह कितना बड़ा से बड़ा त्याग; जघन्यतम पाप करने के लिए तत्पर है यह उसके पुरुषत्वहीन होने की सूचना देता है तथा यह द्योतक है उसकी क्लीवता तथा कायरता का भी। शकराज के शव के साथ जाते मिहिरदेव, एक ऋषि, तथा कोमा, एक बाला-जैसे असहाय मनुष्यों का भी बधकर उसने कायरता से जैसे गठबंधन ही कर लिया! साथ ही, जिस भाई ने उसके सभी कुचक्रों को सहा, उसकी सारी बातें मानी, उसके अत्याचार पर तलवार की कौन कहे जीभ तक न हिलाई; उसी चन्द्रगुप्त को वह अपने हाथों मारने का प्रवन्ध करने लगा। इस पामरता, नराधमता, नीचता का भी कहीं ठिकाना है?

कुछ विद्वानों के मतानुसार रामगुप्त के द्वारा ध्रुवस्वामिनी एवं चन्द्रगुप्त को शकशिविर में भेजने की क्रिया राजनीति से संबंधित होने के कारण ठीक मानी गई है। एक ही पत्थर से दो शिकार करना राजा की दृष्टि से सुन्दर नीति है। जब दोनों उसके शत्रु-स्वरूप ही हैं, तो क्यों न उनका अंत किसी न किसी तरह कर दिया जाय! और यह उपाय तो किसी भी भावी खतरे से दूर है--न प्रजा का विद्रोह, न परिषद् का विप्लवी रस दृष्टि से देखने पर रामगुप्त के चरित्र में शायद यह एक गुण माना

जा सके—पर ऐसा करना दूर की कौड़ी लाना है। कम से कम प्रसादजी का मत तो ऐसा नहीं ही होगा।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त का चित्रण ध्रुवस्वामिनी के जीवन के प्रेममय अंग की पुष्टि के लिए हुआ है। उसका चरित्र कथावस्तु के लिए आवश्यक था। यद्यपि चन्द्रगुप्त का स्थान नाटक में गौण है, फिर भी जो कुछ भी है वह दोषरहित, ओजपूर्ण, रोमान्टिक एवं वीर युवकोचित है। चन्द्रगुप्त, जिसकी 'स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्त्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता' था, तरुणाई एवं वयस के अनुकूल प्रेम का एक उज्ज्वल प्रतीक है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का प्रेम पहले से ही अटूट था। रामगुप्त से शादी के पश्चात् भी उसमें कोई त्रुटि नहीं आई। प्रेम का वह निष्कलंक रूप ज्यों का त्यों बना रहा। चन्द्रगुप्त में प्रेम की पीड़ा इतनी घनीभूत थी जिसका प्रकटीकरण नहीं हो सकता था, भाव था जो दबा हुआ था, पुरुषत्व था जो त्याग का शासन ग्रहण कर रहा था, उत्तेजना थी जिसे वह स्वयं दबाए रखता था, बढ़ने नहीं देता था।

प्रथम अंक में ही जब ध्रुवस्वामिनी अपनी हत्याकर, अपने को 'मृत्यु की चादर में ढँक लेना' चाहती है, चंद्रगुप्त का 'सहसा प्रवेश' होता है। कारण जानने पर, गुप्तकुल की मर्यादा, नारी का नारीत्व, अपने पुरुषत्व, अपने त्याग का स्मरणकर उसके हृदय का वीर-व्यक्ति हुँकारने लगता है—'जिस मर्यादा के लिए—जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान!' उसके हृदय में जो प्रेम की कली खिल उठी थी,

उषा की अरुणिमा-सी जिसकी ज्योति फैल चुकी थी; उसके सम्बन्ध में उसके ये विचार हैं—'मेरे हृदय के अंधकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अवगत भाव से अपना मधुर आलोक ढा दिया था, उसको भी मैंने इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि—(सहसा चुप हो जाता है)।' शिखर स्वामी के साथ रामगुप्त ने आकर यह निश्चय किया कि शकशिविर में ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त भी भेजा जाय। चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के साथ शकशिविर में जाने के लिए सहमत नहीं। वह स्वयं जाना चाहता है। महादेवी को कठिनाइयों से दूर-दूर रखना चाहता है। बाद में ध्रुवस्वामिनी के आग्रह से सभी का साथ जाना ही तय हो जाता है।

शकराज की मृत्यु के बाद मन्दाकिनी द्वारा 'महादेवी बनने के पहले ध्रुवस्वामिनी के मनोभावों' की याद दिलाने के समय चन्द्रगुप्त का 'पुरुष' अपने आप से द्वन्द्व करने लगता है। उसके हृदय के गहन अंतस्थल से एक मूक स्वीकृति आज भी बोल रही है। वह सोचता है, 'मैं पुरुष हूँ? नहीं, अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी अपनी नहीं रही। मैं जो हूँ वही तो स्पष्ट रूप से नहीं प्रकट कर सका। विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कबतक छिपा सकेगी?' उसका यह पुरुषत्व रामगुप्त द्वारा बन्दी हो जाने पर भी सुषुप्तावस्था में रहता है। प्रतिवाद करने का आग्रह करने पर भी मौन रहता है; पर वही ध्रुवस्वामिनी के बन्दी होते समय प्रकट हो जाता है। लज्जा, दया तथा कायरता का घूँघट हटाकर फट पड़ता है। हाथों में जकड़ी बेड़ियों को तोड़ देता है वह, ध्रुवस्वामिनी के कारण, उसके

स्त्रीत्व की रक्षा के निमित्त। उसके प्रति उसके हृदय में पत्नीत्व का सूक्ष्म आंतरिक भाव—पुरुषत्व की पुकार थी जिसे वह दबाने में असमर्थ था। इतना होने पर भी वह रामगुप्त का द्वेषी नहीं, विद्रोही नहीं, भाई का शत्रु नहीं है। परिषद द्वारा उसके राजा निर्वाचन के बाद रामगुप्त का, जो चन्द्रगुप्त को मारना चाहता था, एक अन्य सामन्त द्वारा बध करवा कर प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के चरित्र की रक्षा की है, उसके चरित्र को कलंकित होने से बचाया है।

चन्द्रगुप्त मूक प्रेम को लेकर ही जीवन के पथ पर अग्रसर होता है। उसी आलोक को देखता हुआ वह रामगुप्त के सभी अत्याचारों को सहता है। पथ में पर्वत मिलते हैं, बड़ी-बड़ी घाटियाँ मिलती हैं, झाड़ियों से वह उलझता है, वृक्षों से टकराता है, पर उस ज्योति को, उस आलोक को आँखों से ओझल नहीं करता। उसके बिना चन्द्रगुप्त एक हास्यास्पद व्यक्ति मालूम पड़ेगा। उससे शून्य उसकी कोई सत्ता नहीं, कोई महत्ता नहीं।

मिहिरदेव

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद का न केवल इतिहासज्ञ, पर दार्शनिक और कवि भी कोमा और मिहिरदेव के रूप में प्रकट हुआ है। 'दार्शनिक और कवि दोनों चिंतक होते हैं। उनके चिन्तन का मार्ग प्रारम्भ में प्रायः भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं; किन्तु एक सीमा पर पहुँचकर वे इतने निकट हो जाते हैं कि उनमें कुछ भेद ही नहीं रहता, उनकी द्वयता मिट जाती है।' प्रसाद के पात्रों में जब एक ही व्यक्ति में इन दोनों का समावेश

हो जाता है तो वह उच्च कोटि का कलात्मक हो जाता है। मिहिरदेव में भारतीय पौराणिक ऋषि का रूप है।

ये कोमा के पोषकपिता हैं। पिता का अपनी संतान से जिस प्रकार का प्रेम रहता है, जिस प्रकार वह उसके मंगल की कामना किया करता है—इसका समिश्रित रूप मिहिरदेव में वर्तमान है। वे महर्षि कण्व से कम नहीं हैं। वे न केवल दार्शनिक हैं परन्तु भविष्य द्रष्टा भी। कोमा के शकराज से प्रेम होने पर मिहिरदेव कोमा के सुखी जीवन को देखकर खुश होते हैं। पर, जब कोमा को दुखी देखते हैं तब पूछते हैं, 'बेटी तू उदास क्यों है?' उसके कारण बतलाने पर वे भविष्यवाणी-सा करते हैं—"स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा? राजा! स्त्रियों का स्नेह विश्वास भंग कर देना, कोमल तंतु को तोड़ने से भी सहज है; परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भो सोच लो।" अपनी एक मात्र लाड़ली को ऐसी परिस्थिति में देखकर वृद्ध पिता उसे अलग ले जाना उचित समझता है। वह जानता है कि 'प्रतारणा में बड़ा मोह होता है। उसे छोड़ने का मन नहीं करता'। कोमा को वे समझाते हैं—'बेटी! हृदय सँभाल। कष्ट सहने के लिए प्रस्तुत हो जा। छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी; परन्तु दुखदायी और हृदय बेधने के लिए।' कोमा के हृदय में इसी स्थल पर विवेक और मोह का कठोर संघर्ष दिखायी पड़ता है, यही स्थल उसके व्यक्तित्व का चरम उत्कर्ष है। मिहिरदेव इस मोह-बन्धन को तोड़कर मुक्त होन का आदेश देते हैं, इस पर वह व्यथित हो उठती है—'(सकसरण) तोड़ डालूँ पिताजी...... ऐसी आज्ञा न दो।' इस अन्तर्द्वन्द्व में मोह पर विवेक की

विजय होती है और फलतः वह अपने पिता के साथ चली जाती है।

पुरोहित

नाटक में जहाँ कहीं भी धार्मिक परिस्थितियाँ जटिल हो जाती हैं, जिनका समाधान करना साधारण मस्तिष्क की पहुँच से बाहर है, वहाँ पुरोहित, धर्मशास्त्र की सहायता से उसे सुगम बना देता है। उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा देता है। शकराज की मृत्यु के बाद शान्तिकर्म के लिए 'स्वस्त्ययन' करने वह आता है, यहीं ध्रुवस्वामिनी की उसे यह खीझ सुननी पड़ती है कि उसने जो यह राक्षस-विवाह कराया है और उसके फलस्वरूप जो आज वह 'बलिपशु की तरह अकरुण आज्ञा की डोरी में बँधी शकदुर्ग में भेज दी गई हैं', उससे जो नरसंहार हुआ है—इन सबों की शान्ति क्या 'स्वस्त्ययन' से हो सकती है? पुरोहित के सामने विवाह-सम्बन्धी यह प्रश्न विकट-रूप में उपस्थित हो जाता है। 'कहीं धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिये'—ऐसी ललकार सुनकर वह निर्भीक पुरोहित चुप नहीं रह सकता और राजभय की तनिक भी चिंता नहीं करते हुए वह अपने अधिकार पर अड़ जाता है। विवाह के संबन्ध में वह कहता है— 'स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास-पूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है? यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल हैं।' और इसी खेल को व्यवहारिक जीवन में उपस्थित करने के लिये वह नाटक के अंतिम भाग में परिषद् के सामने धर्मशास्त्र के नियमों के जोर से रामगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी के विवाह-सम्बन्धी उलझनों को सुलझाता है। कहता है वह 'विवाह की विधि ने देवी

ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रांतिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पद-दलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते; परन्तु यह सम्बन्ध उन नियमों से भी विहीन है। और भी (रामगुप्त को देखकर) यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।........ धर्मशास्त्र, रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।'

मोक्ष की व्यवस्था हमारे देश में एक नई-सी चीज़ है। यूरोपीय देशों में मोक्ष की बहुलता देखकर तथा इसके विपरीत भारत की नारियों की विवशता देखकर हमें परिस्थिति का ज्ञान नहीं होता। प्रसादजी ने धर्मशास्त्रों की छानबीन कर हमें खास-खास परिस्थितियाँ बतलायी हैं जिनमें एक पत्नी सहर्ष अपने पति को त्याग सकती है।[१] पुरोहित में प्रसाद का वही शास्त्रान्वेषक वर्तमान है।

मंदाकिनी

प्रसादजी के पात्रों में कभी-कभी कुछ ऐसी विशेषताएँ रहती हैं या कभी-कभी ऐसी ही विशेषताओं के पात्र उपस्थित किए जाते हैं जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। वैसी कल्पना कम कलाकार कर सकते हैं। इतिहास से उनका सम्बन्ध नहीं रहता है। वे प्रसाद के भावुक हृदय में जन्म लेते हैं, उनके

[१]मोक्ष की परिस्थितियों के लिए 'ध्रुवस्वामिनी का युग' शीर्षक स्तम्भ देखिए।

भावों की सुकुमार लोरियों से पलते हैं, कल्पनाओं की चाशनी में पगते हैं और तत्पश्चात् हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी ऐसी ही पात्री है। उसके जैसा ऊंचा आदर्श 'चन्द्रगुप्त' की कल्याणी तथा 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना को छोड़कर शायद ही अन्यत्र मिले। सुनते हैं, दशरथ ने राम के लिए अपने प्राण त्याग दिए; पर इस त्याग में उनका अपना स्वार्थ था। 'ध्रुवस्वामिनी' की मन्दा में स्वार्थ नहीं, वह तो निर्बलों की सहायिका है, पतितों के लिए सहारा है। जहाँ नारी निर्बल है, विवश है, परमुखापेक्षी है, वहीं मन्दा भी है, और वहीं मन्दा के अबला का सबल रूप भी। वह तो सदा न्याय का दुर्बल पक्ष ही ग्रहण करना चाहती है।

शक संधि का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है, 'मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है।' रामगुप्त ध्रुवदेवी की रक्षा करने में असमर्थ है, मंत्री की मंत्रणा आर्तनाद कर रही है। उस समय यह वीरबाला कैसी मीठी, पर तीखी, चुटकी लेकर चिकोटी काटती है, यह दर्शनीय है—'अमात्य, यह कैसी विवशता है! तुम प्राणदण्ड के लिए उत्सुक! महादेवी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत! तो फिर यह हिचक क्यों? एकबार अंतिम परीक्षा कर देखो। बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश।' इसकी कोई नहीं सुनता; सुने भी कैसे? क्यों? किस लिए? नारी जो ठहरी! इसका अस्तित्व ही क्या? राजा की आज्ञा थी, भला रुकती कैसे? इसने भी एक वीरबाला के समान सामन्त कुमारों के साथ उद्बोधक-गान गाते हुए प्रस्थान किया। नारी थी तो क्या. प्राणों की इसने परवा न की। अबला जीवन के जिस भाग

की रक्षा को इसने अपना कर्त्तव्य समझा था उसके तकाजे से उसे वैसा करना ही अभीष्ट था।

तृतीय अंक में, पुरोहित ध्रुवस्वामिनी के विवाह सम्बन्धी बातों में मूक बन बैठता है। पुरोहित की नीरवता मन्दा को खटकती है—नारी का यह अपमान और वह भी उन धर्मशास्त्रों द्वारा, जिन पर आर्य संस्कृति की नींव डाली गयी है—इसे वह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती। गरज उठती है वह—'जिन स्त्रियों को धर्म-बंधन में बाँधकर; उनकी सम्मति के बिना उनका सब अधिकार आप छीन लेते हैं; तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते; जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में आलम्ब माँग सकें।' इधर यह ध्रुवस्वामिनी के पक्ष से पुरोहित के धर्मशास्त्र की विवेचना करती है; उधर चन्द्रगुप्त को कर्त्तव्य से विमुख होते देखकर—नारी को असहाय अवस्था में छोड़ दूर रहने की तैयारी देखकर—वह उसे भी मार्ग बतलाती है, उसके हृदय में भी पुरुषोचित भावनाएँ जगाती हैं;—'हृदय में नैतिक साहस—वास्तविक प्रेरणा और पौरुष का पुकार एकत्रकर सोचिए तो कुमार! कि अब आप को क्या करना चाहिए?'

फिर, रामगुप्त के 'पुरुषार्थ का इतना बड़ा प्रहसन! अबला पर ऐसा अत्याचार!!' देखकर उसकी आत्मा को एक ठोकर लगती है; पर विवश नारी थी, करती क्या? मौन रहने के सिवा दूसरा उपाय ही नहीं था। फिर भी वह रामगुप्त को मुँह तोड़ जवाब देने में नहीं डरती 'राजा का डर मंदा का गला नहीं घोंट सकता। भगवान् ने स्त्रियों को उत्पन्न करके ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है। किन्तु तुम लोगों की दस्युवृत्ति ने उन्हें लूटा है।' नारी के हृदयतल से निकली इन भावनाओं में

केवल मंदा का ही स्वर नहीं है, इसमें समस्त मानव जाति द्वारा प्रताड़ित नारी का चीत्कार है, करुण क्रन्दन है, विद्रोह है।

शिखरस्वामी

रामगुप्त के सभी कार्यों में शिखरस्वामी का इशारा रहता है। उसकी ही मंत्रणा से वह कुविचारों में प्रवृत्त होता है। शिखरस्वामी का नाटक में मुख्य स्थान नहीं है। वह समय एवं परिस्थिति के अनुसार अपनी भावनाएँ बदलने वाला है। 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै'—की नीति से वह पूर्ण सहमत है। हवा का रुख देखा, झट नाव का पाल बदल दिया। रामगुप्त का जब तक प्रभुत्व रहता है तब तक उसकी 'हाँ' में 'हाँ' और उसके बाद चन्द्रगुप्त की शक्ति देख, रामगुप्त से बिल्कुल फिरंट—यही तो मन्त्री हैं और यही हैं उनके कच्चे चिट्ठे। यह 'राजनीतिक दस्यु' अपनी दोरंगी चालों से रामगुप्त के क्षुद्र मस्तिष्क को सदा अपनी मुट्ठी में किये रहता है और समय पर चट उलट भी जाता है। चन्द्रगुप्त की बातें वह तुरन्त स्वीकार कर लेता है। रामगुप्त आश्चर्य करता है—'तुम भी शिखर ऐसा कहते हो?'

१२. खिंगल राजनीतिक दूत है। शकसन्धि का प्रस्ताव-वाहक है वह। राजाज्ञा का पालन करने वाला राजभक्त है। खड्गधारिणी, रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी के मनोभावों की जानकारी रखने के लिए भेजी गई गुप्तचरी है। इन दोनों के चरित्र नाटक में बिल्कुल गौण हैं; उनसे एक परिस्थिति-विशेष की पुष्टि भर होती है। और कुछ नहीं।

प्रसाद के नाटकों में प्रायः यह दोष निकाला जाता है कि उनमें सजीवता तथा स्वाभाविकता का अभाव-सा है। 'विशाख'

से लेकर जब हम प्रसाद के नाटकों में स्वाभाविकता तथा सजीवता सम्बन्धी विचार करते हैं तो मालूम होता है कि हम दुनिया से दूर 'हिल्टन' की 'शैंग्रिला' में जाते समय शैलशृंग पर चढ़ रहे हैं। 'अजातशत्रु' शिखर का वह भाग है जहाँ मानव मानव नहीं; उसके विचारों को हम मानवीय कहते हुए भी अपने जीवन में नहीं उतार सकते। हम तो वैसे पात्र चाहते हैं जो हमारे साथ खेलें कूदें और समान रूप से हमारे दुःख-सुख से प्रभावित हों। जो पात्र मानव समाज के निकट नहीं होते, वे न स्वाभाविक होते हैं, न सजीव एवं प्रभावोत्पादक ही। 'स्कन्दगुप्त' में हम जैसे प्रसाद को शिखर से नीचे उतरते देखते हैं और 'चन्द्रगुप्त' में उन्हें कुछ-कुछ पहचानने-से लगते हैं। कुहासा फटता-सा नजर आता है, वायु का वेग शिथिल मालूम पड़ता है। लेकिन 'ध्रुवस्वामिनी' (प्रसाद की अंतिम तथा सर्वश्रेष्ठ नाटिका) में हम प्रसाद की कोई भी त्रुटि नहीं देखते जो उनके प्रारम्भिक नाटकों में हैं। चरित्र-चित्रण में जितनी सफलता प्रसाद को यहाँ मिली है, वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ सभी पात्र हमारे निकट हैं, समीप हैं, हँसते-गाते, खेलते-कूदते-से हमारे सुख-दुख के संगी हैं। हममें-उनमें एक-रूपता है।

'ध्रुवस्वामिनी' की नायिका आज की नारी का सफल प्रतिनिधित्व करती है। वेदना, करुणा, रुदन, विवशता के भार से दबी वह पुरुष के पैरों के नीचे पड़ी जो कराहती रहती है और अन्त में अपने वास्तविक रूप में नारी बनकर, वह आत्माभिमान का परिचय दे बेड़ियों को काटने की जो चेष्टा करती है, उसका सफल, सजीव, स्वाभाविक चित्रण प्रसाद ने यहाँ किया है। अबला है वह, कौशल्या है, माता यशोदा है, क्षत्राणी भी तो

वही है। वह कैकेयी है, विन्दुमति सावित्री भी वही है! कोमा में प्रसाद का प्रेमी हृदय—वह हृदय जो अब तक 'लहर' में 'करुणा की अँगड़ाई' लेता रहा है, यहाँ प्रेम पर कड़ाई देखकर, सरिता की क्षीण धारा पर पत्थरों का जमाव देखकर—चीत्कार कर उठता है, खीझता है, पर करे तो क्या? टीस सहनी ही पड़ती है, कसक झेलनी ही पड़ती है। आज के समाज में हम कितनी कोमा देखते हैं? आज का समाज हमें कितनी मंदाकिनी देता है?—यदि देता नहीं तो आशा अवश्य करता है। युग की माँग है, पुकार है,—आँखें उस ओर दौड़ती ही हैं। समाज में उठती मोक्ष सम्बन्धी भावनाओं की आज्ञा पुरोहित, धर्म-शास्त्रों का आधार पकड़ कर देता है। इतना होते हुए भी आज हम रामगुप्त-से पुरुषों को भी अपने बीच देखते हैं—वे पुरुष जिन्हें नारी की विवशताओं से लाभ उठाने में ही आनन्द आता है। मिहिरदेव-से ऋषि महापुरुषों की भी आज कमी नहीं। हमारा समाज उनका आदर करता है।

८

'ध्रुवस्वामिनी' की नारी-भावना

'आदम' और 'इव' के बच्चे की जब आँखें खुलीं तो सर्वप्रथम उसने अपनी माँ को देखा। उसमें उसने विश्व की जननी का रूप देखा, परोपकार की प्रतिमा देखी तथा स्नेह की निर्झरिणी का उद्‌गम-स्थान। कालान्तर में उसकी यह भावना विकसित होती गयी और उसका कवि-हृदय उसकी प्रशंसा में गा उठा—'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।' बाद में उस भावुकता की देहली पारकर उसने विश्व के सौन्दर्य पर जब दृष्टिपात किया तो उसकी आँखें युवती के सौन्दर्य के चामचूम से चौंधिया गईं। अब उसके अन्तर की नैसर्गिक देवी की प्रतिमा रक्तमज्जा विनिर्मित षोड़शी की प्रतिमा बन गयी। अब भी कल्पना जगत में वह दूर की सैर करता हुआ नारी की महत्ता का गुणगान तो करता रहा, पर व्यवहारिक जगत में उसे अपने पैरों से ऊपर नहीं बैठा सका। नारी के मूल्याङ्कन के वादविवाद में यूरोप वाले हमें आखें दिखाकर कहते हैं—'तुम लोग नारी की मर्यादा नहीं समझते। आमोद और आह्लाद में उसे सम्मिलित होने नहीं देते। घर के कोने में बंद रखकर उसका दम घोटते हो। सचमुच तुम लोग

बर्बर हो।' इस तर्क के बाद हम अपने आचार्यों के लच्छेदार श्लोकों को दनादन उद्धृतकर उन्हें उलटी चपत लगाते हैं—'नहीं हम लोग अपनी माँ बहनों के चेहरे पर रंग पोतकर, तरह-तरह की भड़कीली पोशाक पहनाकर, उन्हें शैम्पेन और कलारेट पिलाकर और इस प्रकार उन्हें उत्तेजित करके सभा-सोसाइटियों में अर्द्धनग्न अवस्था में नचाते नहीं फिरते। हम लोग उन्हें घर के कोने में ही रखकर उनकी पूजा करते हैं। तुम्हें बॉलडैंस की पोशाक में देखकर हम लज्जा से मुँह फेर लेते हैं और नाच देखकर आँखें बन्द कर लेना पड़ता है। हम लोग बर्बर बनकर अपनी माँ बहनों को सदा घर के कोने में बंद रखना पसंद करेंगे, उनकी मर्यादा बढ़ाने के आवेश में उन्हें खुले आम नचा नहीं सकते।' इन तर्कों से प्रतिवादी हार मान लेता है और हम अपने यहाँ की नैतिकता की दुहाई देते हुए घर लौट आते हैं।

लेकिन, यदि कोई पूछे कि तुम पूजा तो करते हो पर यह तो बताओ कि कौन-सी प्रणाली तुमने स्वीकार की है? ऐसी परिस्थिति में नारी शब्द से जो भाव हमारे मन में उठते हैं वे हमें गौरवान्वित करने में अधिक सहायता नहीं देते। हम उनका मूल्याङ्कन करते समय प्रायः यही देखते हैं कि वे कहाँ तक स्नेहशीला, सेवा परायणा, सती तथा मौन रहकर कष्ट सह सकती हैं, उनके द्वारा पुरुष को कहाँ तक सुख और सुभीता हो सकता है, वे कहाँ तक रूपसी हैं तथा पुरुष की लालसा और प्रवृत्ति को वे कहाँ तक तृप्त कर सकती हैं! पुरुषों ने ही सारे धर्मशास्त्र के कानून बनाए जिसमें नारी की आवाज़ अनसुनी कर दी गई। आज नारी का कोई स्वत्व नहीं, अधिकार नहीं, जीवन नहीं। युग-युग से महारथियों ने उन्हें घृणा की दृष्टि

से देखा है।[१] अतीत से ही वह उसके प्रति व्यवहार करता आ रहा है। उसके अस्तित्व को मिथ्या, उसके जीवन को खिलवाड़ एवं उसके शरीर को मनबहलाव की सामग्री समझकर वह मनमाना अत्याचार करता रहा है।

अपने स्वार्थ के लिये पुरुष सदा से स्त्रियों का निर्यातन और अपमान करता आ रहा है। हम तो इसमें नारी की ही कमज़ोरी पाते हैं। पुरुष जो कुछ चाहते हैं और उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी धर्म के नाम पर प्रचार करते हैं उसे वे स्वीकार कर लेती हैं। इस प्रकार पुरुषों की इच्छा को ही अपनी इच्छा मानकर भूल करती हैं और भूल करके भी सुखी होती हैं। आज नारी जाग गयी है। आश्चर्य तो इस बात का है कि वह

---

[१] शङ्कर ने स्पष्टतया कहा है कि नारी नरक का द्वार है। बाइबिल में उसे Root of all evils (सारे अनर्थों की जड़) कहा गया है। यूरोप के प्रसिद्ध लैटिन धर्मज्ञ टारटुलियन ने लिखा है—Thou art the devil's gate, the betrayer of the tree, the first deserter of the Divine Law. सेण्ट ऑस्टाइन भी अपने शिष्यों को सिखलाते हैं—What does it matter whether it be in person of a mother or of sister, we have to be aware of Eve in every woman. सेण्ट एम्ब्रोज ने भी कहा है—Remember that God took a rib out of Adam's body and not a part of his soul to make her प्रसिद्ध सेण्ट बर्नर्ड ने अपनी माता को यह गर्हित पत्र लिखा था—पुरुष की अपनी मातृगत श्रद्धा का उदाहरण देखिए—'What have I to do with you? What have I received from you but sin and misery? Is it not enough for you that you have brought me in this miserable world—that you being sinners have begotten me in sin.........'

पहले क्यों नहीं जागी ! पुरुषों के अत्यधिक अत्याचार, अविचार और पैशाचिक निष्ठुरता सहन करने पर भी स्त्रियाँ सदा से उनके साथ स्नेह करती आई हैं, उन पर श्रद्धा करती आई हैं, उनकी भक्ति करती आई हैं और उन पर विश्वास करती आई हैं—जान पड़ता है उन्हें इस बात का कभी ध्यान ही नहीं हुआ कि वह कितना अधिक नीच और प्रपंचक है।

प्रसाद ने नारी की इस बेबसी को भर आँखों देखा है। प्राचीनता के इस पुजारी ने वर्तमान के उपेक्षितों को भुला नहीं दिया। प्रसाद ने नारी का स्थान समाज में पुरुष से भी अधिक महत्वपूर्ण माना है। वे पुरुषों से अधिक सतेज और जाग्रत हैं। नाटकीय गति की मानों ये ही नियामक और संचालक हैं। उनके व्यक्तित्व की परिधि से ही घिरे-घिरे हम पुरुषों को चलते पाते हैं। प्रसाद की मान्यता यह है कि ये दैवीशक्तिसम्पन्न नारियाँ पुरुष को पतन की ओर नहीं घसीटतीं। परंपरागत भावना में उनके रूप के भीतर श्यामता का महत्व ही अधिक आँका गया है। प्रसाद के नाटकों में जहाँ पुरुष फिसला, नारी सामने दिखलाई पड़ी। उसका अवतरण ही मानों आसुरी वृत्तियों का नाश करने के लिए, सोने वालों को जगाने के लिए, रोने वालों को हँसाने के लिए है। ये मानवता का आदर्श लेकर उपस्थित होती हैं। क्षमा, न्याय और सहनशीलता की ये मूर्ति हैं—कठोर से कठोर कष्ट भी उन्हें पथभ्रष्ट नहीं कर सकते। हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों को छिपाना इनका जैसे स्वभाव ही हो गया है।

ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद ने नारी-जीवन के तीन रूप—ध्रुवस्वामिनी, कोमा और मंदाकिनी के रूपक में—प्रकट किया है। ये तीनों चरित्र अपनी-अपनी विशेषताएँ लिए हमारे सामने आते हैं। परिस्थितियाँ समान होने पर भी रेखाएं अलग-अलग हैं।

ध्रुवस्वामिनी के जीवन के तीन पहलू हैं—वह राजमहिषी है, पत्नी है, प्रेमिका है। रामगुप्त गुप्तवंश का सम्राट् है, ध्रुवस्वामिनी सम्राज्ञी। महादेवी होते हुए भी उसके अधिकारों से वह सर्वथा वंचित है। गुप्तकुल में उसकी कोई पूछ नहीं उसकी कोई सत्ता नहीं। वह देखती है कि 'इस राजकीय अंतःपुर में सब जैसे एक रहस्य छिपाए चलते हैं, बोलते हैं और मौन हो जाते हैं!' यहाँ उसके लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा जो उसे आते ही मिला। 'इस राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन मिलेगा क्या? प्रतिहारी रामगुप्त को खोजती आती है, ध्रुवस्वामिनी अपने अंतर की पीड़ा को दबाकर व्यंग से मुस्कुराते हुए उत्तर देती है—'मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं, देखो किसी कुंज में ढूँढ़ो।' यहाँ यह रानी एक साधारण महिला के रूप में दिखायी पड़ती है—वह महिला जिसका पति सम्राट् होने पर भी उसकी परवा नहीं करता, उस पर शासन करता है, उसे एक नाचीज़ समझता है! शकराज के प्रस्ताव-प्रसंग में ध्रुवस्वामिनी का प्रश्न था—'मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है?' रामगुप्त उत्तर क्या देता, मौन रह गया। जब ध्रुवस्वामिनी ने देख लिया कि राष्ट्र रक्षा रूपी यज्ञ में रानी की बलि होगी ही, तब वह गरज उठती है; उसका रानीत्व फूट पड़ता है। पर बाद में इस अबला को यह ज्ञात होता है कि वह नारी पहले है, रानी बाद में।—'मैं केवल रानी ही नहीं स्त्री भी हूँ; मुझे अपने को पति कहने वाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नहीं।'

रानी का पत्नीत्व यहीं से अपनी सीमा पर पैर अड़ाए भविष्य के जीवन का सिंहावलोकन करता है। वह स्त्री की

हैसियत से, सहधर्मिणी की हैसियत से अपने पति से कहती है, अनुनय करती है, बिनती करती है—'मेरे पिता ने उपहार स्वरूप कन्यादान किया था। किन्तु गुप्त सम्राट् क्या अपनी पत्नी को उपहार में देंगे ? राजा आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ.... आज मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है।' यहाँ नारी पुरुष को फिसलते देखकर उसके लड़खड़ाते पैरों को सँभालना चाहती है। लेकिन रामगुप्त के 'तुम मेरी रानी ? नहीं, नहीं। जाओ तुमको जाना पड़ेगा' कहने पर ध्रुवस्वामिनी अपनी विषम परिस्थिति देखकर धैर्य धारणकर अपना कर्त्तव्य निश्चय करती है। वह रवि बाबू के शब्दों में चिल्ला उठती है—'अवहेला करि पुषिया राखिबे पिछे, सेउ आमि नाहिं'; अर्थात्, यदि तुम मेरी अवहेलनाकर मुझे पहलू बनाकर रखना चाहते हो तो वह मैं नहीं हूँ। यहीं वह देख लेती है कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' कहने वाले किस तरह उसकी पूजा किया करते हैं !!'

यही नारी शकराज की मृत्यु के बाद इस उत्पीड़न की साँकरी गली से उछलकर अधिकार के मुक्त वातावरण में पैर रखती है। इस समय गुप्तकुल की वधू को उपहार में देनेवाला रामगुप्त उसका कोई नहीं। वह जानती है 'जो नारी शत्रु के लिए उपहार में भेज दी जाती है, वह महादेवी की उच्चपदवी से पहले ही वंचित हो गई होगी।' इसीलिए अन्तर की 'रानी' की सलाह लेकर वह कहती है—'क्या कहा है। यही न कि मुझसे पूछकर राजा यहाँ आने पावें ?' ठीक है, अभी मैं बहुत थकी हुई हूँ। यहाँ वह रामगुप्त की आज्ञाकारिणी नहीं, उससे उत्पीड़ित एवं शासित नहीं—उसके हाथ में आज अधिकार है, स्वत्व है। जब ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से लौह शृंखलाओं को झटक देने को कहती है, मिथ्या ढोंग का परदाफास करने को कहती है तो

रामगुप्त डाँट देता है—'महादेवी, चुप रहो।' इस महादेवी संबोधन से वह तिलमिला उठती है—'कौन महादेवी ! राजा, क्या अब भी मैं महादेवी ही हूँ ? जो राजा की शय्या के लिए क्रीतदासी की तरह भेजी गई हो; वह भी महादेवी ! आश्चर्य !!' नारी का यही अभिमान परिषद् के निर्णय के बाद रामगुप्त को आज्ञा देता है—'रामगुप्त, तुम अभी इस दुर्ग के बाहर जाओ।' पत्नी का पति के प्रति यह कर्त्तव्य शायद किसी को अभारतीय जँचे पर प्रसादजी ने मोक्ष की व्यवस्था से तथा रामगुप्त के जघन्यतम कर्मों का सहारा लेकर ऐसी परिस्थितियों की योजना की है जिससे ध्रुवस्वामिनी का चरित्र बेतुका नहीं लगने पाता।

नारी जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग उसका प्रेमतत्त्व है। ध्रुवस्वामिनी के सामने बिडम्बनाओं का झमेला है, फिर भी वह जीती है, सहती है, कराहती है, पर मुस्कुरा भी लेती है। वह जानती है कि 'कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं। सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं। फिर भी स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना।'[१] यदि उसके जीवन से यह तत्त्व हटा लिया जाय तो नारी नारी नहीं रह सकेगी। प्रेम से शून्य नारी मानवी नहीं।[२] ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है, वह भी इसे

[१]'कलावती की शिक्षा' से। [२]प्रसाद ने रूढ़-संस्कारों को तोड़कर नारी के सम्बन्ध में विचार स्वातंत्र्य, उदारता एवं मानवता के पक्षों पर विचार किया है—'वही स्वर्ग तो नरक है, जहाँ प्रियजन का विच्छेद है। वही रात प्रलय की है जिसकी कालिमा में विरह का संयोग है। वह यौवन निष्फल है जिसका हृदयवान उपासक नहीं। वह मदिरा हलाहल है, पाप है, जो उन मधुर अधरों को उच्छिष्ट नहीं। वह प्रणय विष बुझी छुरी है, जिसमें कपट है।'

दिल से चाहता है। दोनों के हृदय में प्रेम की क्षीणकाय सरिता बहती तो है, पर दूर ही दूर। दोनों धाराएँ परस्पर मिलने के लिये छटपटाती हैं, मार्ग के कंकड़ों को वेग से दूर करना चाहती हैं, पर बीच की भूमि उड़ती-सी मालूम पड़ती है, उलझनें बढ़ती जाती हैं। आरम्भ में ही रामगुप्त, खड्गधारिणी द्वारा ध्रुवस्वामिनी के हृदय में स्थित चन्द्रगुप्त सम्बन्धी प्रेम की गहराई नापने की चेष्टा करता है। वह चन्द्रगुप्त के जीवन की कठिन परिस्थिति को बतलाकर उसके अन्तर के नीरव प्रेम को उत्तरोत्तर उभाड़ती है—'कुमार को इतने से ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है।' ध्रुव-स्वामिनी के हृदय का प्रेमी समवेदना के साथ बोल उठता है—'किन्तु उन्हें कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जिससे उनकी स्थिति और भी भयानक हो जाय।'

इसी भयानक स्थिति के खटके के कारण वह चन्द्रगुप्त से मिलना चाहती है। 'शिखरस्वामी मिलना चाहते हैं'—इस आशय का सम्वाद एक परिचारिका लाती है और आज्ञा चाहती है। ध्रुवस्वामिनी के अन्तर की उत्कण्ठा सजग हो हो जाती है—"मैं महादेवी ही हूँ न ? यदि यह सत्य है तो क्या तुम मेरी आज्ञा से कुमार चन्द्रगुप्त को यहाँ बुला सकती हो। मैं चाहती हूँ कि अमात्य के साथ ही कुमार से बातचीत कर लूँ।" लेकिन नारी को अधिकार ही कितना कि वह स्वेच्छा से कुछ कर सके। राजा उसे उपहार की वस्तु समझकर शकशिविर में भेजना चाहता है—जब यह बात चन्द्रगुप्त को मालूम होती है तो वह आत्म सम्मान एवं प्रेम से विह्वल हो जाता है :—

चन्द्र०—'मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से मधुर आलोक

दिया था उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि—(चुप हो जाता है।)

ध्रुव०—(आँख बन्द किए हुए कुतुहल भरी प्रसन्नता से) 'हाँ-हाँ, कहो-कहो।'

इस 'कहो-कहो' में कितनी बेचैनी है, उत्कण्ठा है, कितनी जिज्ञासा और आत्मीयता है! इन्हीं सुखमय क्षणों में ध्रुवस्वामिनी दम भर साँस ले लेती है।

शकशिविर में जाने के लिये चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी का साथ देना चाहता है। भावावेश के कारण, प्रेमी का उत्सर्ग देखकर, वह सबों के सामने ही उसे भुजाओं में कस लेती है—'नहीं, मैं तुम्हें जाने न दूँगी। मेरे क्षुद्र नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिये इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।' इस आलिंगनजनित आह्लाद की उसे सदा याद आती है—'कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन! कितने संतोष से भरा था! कुमार तुमने वही किया जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भींगी जा रही हूँ।' चन्द्रगुप्त की यह अनुरागिनी वीर हृदया है, प्रेम को समझती है, हृदय की भावनाओं को प्रत्यक्ष देखती है। तीसरे अक में भूल से मन्दाकिनी के भाभी कहने पर उसकी यह उक्ति करुणा, उल्लास एवं प्रसन्नता छिपाये हुए है—'मंदा भूल से ही तुमने आज एक प्यारी बात कह दी, उसे क्या लौटा लेना चाहती हो? आह यदि वह सत्य होती!' नारी का यह रूप ध्रुवस्वामिनी में सदा वर्तमान रहता है। अंतिम दृश्य में उसका प्रेमी हृदय चन्द्रगुप्त को शृङ्खलाबद्ध देखकर चीख उठता है—'कुमार! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बंधन नहीं। कहते क्यों नहीं कि मेरा यही अपराध है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया। झटक दो

इन लौह-शृंखलाओं को ! यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा। तुम्हारा दुर्दैव भी नहीं।' यहाँ प्रेमपाश के सामने सांसारिक बंधनों की अवहेलना है। यह वह अवस्था है जब एक स्त्री अपने प्रेम की उपत्यका में आग लगते देख बाहरी तमाशगीरों की परवा न कर पौधों को यथाशक्ति सुरक्षित रखने की चेष्टा करती है। नारी हृदय की इसी अभिव्यक्ति में उसके जीवन का सार है। उसके अन्तर के कचोट की सीमा है—वह सीमा जो झुरमुट की आड़ से प्रहार करने वाले को यथोचित उत्तर देने की भी क्षमता रखता है। यहाँ वह पूर्ण रूप से नारी है, मानवी है।

विश्व के नरनारी के शाश्वत सम्बन्ध में कुछ घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जब वे एक दूसरे को पहचानने लगते हैं, परस्पर संयोग का एक सूत्र बँध जाता है फिर भी प्रतिकूल मनोभावों के कारण उनका प्रेम हिमाच्छादित रहता है। इन परिस्थितियों में नारी की दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। अहंकारी पुरुष तो मुँह मोड़कर निकल जाता है, पर नारी बिचारी !!! 'रुक जा सुन ले ओ निर्मोही !'—कहकर वह पुकारती रह जाती है, पर सुनता कौन है ! कोमा इन्हीं नारियों का प्रतिनिधित्व करती है। उसके अन्तर में उषा की लाली है, हाथों में मद की प्याली—यौवन की अँगड़ाइयाँ लेती हुई वह प्रेमी के साथ एक ही झूले पर बैठकर मधुर संगीत गाकर उसे रिझाते हुए, सारे विश्व को एक ही सम पर लोटपोट कर देना चाहती है। शकराज उसका प्रेमी है, वह उसकी प्रेम-प्रतिमा। वह चाहती है कि इस प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध अटूट रहे, अखण्ड रहे। वह चाहती है कि रस का उफान एक के दिल से अन्धाधुन्ध उठे और दूसरे के दिल पर अन्धाधुन्ध आए। शकराज का भी उस पर प्रेम था,

पर राजकीय झंझटों तथा राजनीतिक प्रतिशोधों के झमेले में उसके हृदय का प्रेमी अपनी कहानी कह नहीं पाता। कोमा उसे प्रेम शून्य देखती है। उसके अनुसार यदि दिल के पैमाने से रस ही नहीं छलका तो शासन की बागडोर ही क्यों न हो, गौरव की सीमा ही क्यों न हो वह प्रेम की कसौटी पर कौड़ी का तीन है। नारी की चिरसंचित निधि—प्रेम—पर वह किसी की असावधानी गर्हित ही समझती है।

अकस्मात् उसके जीवन कानन में राका रजनी की छाया में छिपकर एक दिन मधुमय बसन्त आया। शरीर की सभी क्यारियाँ हरीभरी हो गईं। सौन्दर्य की कोकिल ने 'कौन—कहाँ ?' कहकर उसे रोका-टोका। वह मदमाती, इठलाती अपने प्रियतम के पथ की ओर इशाराकर खिलखिला पड़ी। वह चलती गई बढ़ती गई। पहुँच गई वह पगडंडी के छोर पर, साथ में उसका 'वह' भी था। दोनों बढ़े। सहसा मार्ग का कुहासा बढ़ता गया। 'वह' उससे ओझल होता गया। इसने उसे पुकारा—'जाते कहाँ, मैं तो यहीं हूँ। आओ वसन्त की बहार लूटें।' पर वह क्यों सुनने लगा। उसे तो राजमहल की चकमक पसन्द आयी, रक्त की होली खेलने की इच्छा हुई—फिर कहाँ कोमा, कहाँ शकराज!

ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के प्रेम का आधार खिसक गया है और ध्रुवस्वामिनी का प्रेम इसीलिये शून्य में चक्कर काट रहा है। कोमा ने आधार तो पा लिया है, पर आधार ही उससे विरक्त है। अपने चारों ओर पुष्पों की बनस्थली देखकर वह सोचती है—'इन्हें खींचना पड़ता है, नहीं तो इनकी रुखाई और मलिनता सौन्दर्य पर आवरण डाल देती है। आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नहीं हैं। इनमें फूल जैसे मुकुलित होकर

ही रह गये हैं। खिलखिलाकर हँसने का मानों इन्हें बल ही नहीं।' नारी के प्रेम की भी ठीक यही अवस्था है। यदि प्रेमी अपने मधुर जलकणों से उसे खींचता नहीं जाय तो वह भी फीका पड़ जाता है। उसके विकास में व्यवधान पड़ जाता है। कोमा का जीवन भी इसी तरह का है—वहाँ प्रभात का जागरण है, अरुणिमा है, पर तुषार भी है।

शकराज युद्ध में लिप्त है। कोमा भी अपने भावी पति की दुश्चिन्ताओं में हस्तक्षेपकर उसका भार हल्का करना अपना कर्त्तव्य समझती है। वह युद्ध और पुरुषार्थ का सम्बन्ध समझाना चाहती है—वह चाहती है, कि दुनिया उसके प्रेमी को पुरुषार्थ का दुरुपयोग करनेवाला कहकर उस पर उँगली न उठाए, पर (शकराज के अनुसार) नारी को इन बातों से मतलब ? उसका तो कर्त्तव्य केवल यही है कि अपने को सीमित करते-करते वह इतनी सीमित हो जाय कि पुरुष में उसका अस्तित्व खो जाय। उसे राजनीति के कोलाहलपूर्ण उलझनों से क्या मतलब ![1] वह समझाती है—'जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमंत्रित करता है। उससे उदासीन न होना चाहिये महाराज !' वह जानती है कि अपने 'अहं' के ताप में पुरुष सब कुछ छोड़ सकता है, पर अपनी पराजय स्वीकार नहीं कर सकता। जब कोमा को यह ज्ञात होता है कि राजनीतिक प्रतिशोध को चुम्बक

[1] नेपोलियन ने एक दिन मैडम कन्डोरसेट से कहा था—'I do not like woman to meddle with politics.' इस पर मैडम ने उत्तर दिया था—'You are right General, but in country where it is the custom to cut off the head of woman, it is natural that they should wish to know the reason, why.'

द्वारा खींचकर ध्रुवस्वामिनी उसके शिविर में आ रही है तब वह जैसे तिलमिला उठती है, उसके प्रेम पर आघात पहुँचता है और उसके हृदय की गूढ़तम अनुभूति जैसे बाहर निकल रही है—'राजा तुम्हारी स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में सङ्गीत की, बसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गई हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था? कह दो, कह दो कि वह तेरी भूल थी!' नारी होने के नाते, 'एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर, अपने गर्व की तृप्ति के लिए' जो अनर्थ हो रहा था उसे वह कैसे सहती! वह पूछती है—'राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता'—सुनता कौन है इस अबला की पुकार। ध्रुवस्वामिनी शकशिविर में आती है और इसी सिलसिले में चन्द्रगुप्त द्वारा शकराज की मृत्यु होती है। जिस शकराज ने कोमा के प्रेम को खिलवाड़ समझकर कच्चे तन्तु की तरह एक झटके से तोड़ दिया था, उसी के शव की याचना करने में बावली कोमा संलग्न दीखती है। जिस प्रेमी को वह जीवन में पति रूप में अपना न सकी थी उसके शव को पाकर सती रूप में उसे शाश्वत पाने की चेष्टा करती है। इस प्रेम में कितनी ज्वाला है, कितना उद्दीपन है यह कोमा के चरित्र से स्पष्ट है।

वह जीवन में शान्ति चाहती है। एक दूसरे की छीना-झपटी के बीच उसका हृदय यही स्वीकार करता है कि मनुष्य यदि राजनीतिक धाँधली, युद्ध की सरगरमी, रक्त की रङ्गीनी को त्यागकर शान्ति के शीतल फुहारों मे ही अपने चमन को गुलजार बनाने का प्रयत्न करे तो वह कोई महँगा सौदा नहीं

होगा। वह समझ नहीं सकती कि आखिर विश्व के लोग उथल-पुथल ही क्यों चाहते हैं। यह 'क्यों' उसके मस्तिष्क में सदा घूमता रहता है। शान्तिशीला नारी कोई रास्ता नहीं निकाल पाती। शकराज को वह भरसक समझाती है—'शकराज के नियम के अनुसार आप अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे। ××× अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है?' प्रसाद के सामने नारी का यही श्रद्धालु रूप था। वह विश्व में शान्ति और प्रेम की अमृतधारा बहाने के निमित्त ही आती है।[1]

मन्दाकिनी उन नारियों का प्रतिनिधित्व करती है जो अपने हृदय को कठोर करके कर्त्तव्य करने के लिए न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना चाहती हैं। नारी का हृदय उसके पास है अतः दूसरी स्त्री का हृदय टटोल सकती है। वह प्रेम को समझती है—उसकी असह्य तड़प वह अनुभव कर सकती है। इसीलिये ध्रुवस्वामिनी के टीस और जलन को वह बखूबी समझ जाती है। नारी हृदय की पीड़ाओं का उसे ज्ञान है अतः वह उनके प्रतिकार के लिये कमर कसकर तैयार हो जाती है। वह निर्भीक बाला है। पुरोहित के सामने गरज उठती है—'जिन स्त्रियों को धर्म बन्धन में बाँधकर उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास

[1]'नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नगपग तल में।
पीयूष स्रोतसी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में।'—कामायनी

कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते; जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें ?' परिषद् के सामने भी वह पुरुषों का कच्चा चिट्ठा खोल देती है। नारी स्वातंत्र्य की दूतिका होने के कारण वह चाहती है कि नारी का भी कुछ अधिकार हो। पुरुष की शक्ति में वह नारी का भी भाग समझती है। उसके अभाव में पुरुष का शक्तिशाली बनना प्रायः असंभव ही होगा।

प्रसादजी ने नारी को हृदय का प्रतीक माना है और पुरुष को बुद्धि तथा मस्तिष्क का। चाहे वह ध्रुवस्वामिनी के रूप में आये तो, कोमा, सुवासिनी, कल्याणी, राज्यश्री, पद्मावती एवं माँगधी के रूप में आये तो, उसका हृदय पक्ष ही सर्वदा प्रबल है। 'एक घूँट' में प्रसादजी ने लिखा है—'देखूँ तो मस्तिष्क विजयी होता है कि हृदय।' यहाँ मस्तिष्क आनन्द का प्रतीक है, हृदय प्रेमलता का। दोनों के संयोग के समय आनन्द कहता है—'आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।' अजातशत्रु के द्वितीय अंक में प्रसादजी ने दीर्घकारायण के मुख से स्त्री के महत्व का विवेचन किया है—'स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में भी एक परिवर्तन है जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, पर अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो।' × × कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है, जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं, इसीलिये प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप। वह कोलाहलमय जगत में अपने हृदय की

बातें सुनती रहती है। वह देव सेना की तरह रण के कोलाहल में भी अपने हृदय को शान्त करने के लिये वीणा छेड़ देती है—'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !'

प्रसादजी ने हमें नारी का विविध रूप दिया है। वह लांछित तो है, पर ध्रुवस्वामिनी की तरह शक्तिशाली भी; अबला है, पर मन्दाकिनी सी वीरहृदया भी। वह प्रसाद की नारी जीवन की भीषण परिस्थितियों में बहते कदम को झटके के साथ रोककर विचार करती हैं—कहीं भी घबड़ाहट वहाँ नहीं है। दयनीय परिस्थिति है, पर कष्ट सहने के लिये जीवन व्यतीत करने का भाव नहीं है। वे एक हल्की-सी सुगन्ध धारा बनकर आती हैं और नाटक के ऊबड़-खाबड़ स्थानों पर अपना प्रभाव डाल विलीन हो जाती हैं—'फूल की तरह आई हूँ, परिमल की तरह चली जाऊँगी।' वह कष्टों में हँसती है—जीवन से ऊबना उसने सीखा ही नहीं। जीवन को अधिकाधिक विकासशील बनाने की उसकी आकांक्षा रहती है। अन्तर की कोमलता लिये, नयनों में आँसू लिये, वह अन्यों के क्षत-विक्षत हृदयों को भी सहलाती रहती है। प्रसाद ने भारतीय रमणी का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत किया है। इनकी नारी का यह आदश है :—

'जहाँ मरु ज्वाला धधकती
चातकी कण को तरसती,
उन्हीं जीवनधारियों की मैं सजल बरसात रे मन।'—कामायनी।

९

'ध्रुवस्वामिनी' में दुःखान्त-सुखान्त-भावना

जीवन धूप-छाँह की आँखमिचौनी है; कभी दुःख, कभी सुख और इन्हीं के आवर्तन-विवर्तन में जीवन की धारा प्रवाहित होती रहती है। मानव जीवन की सारी क्रीड़ाएँ इसी खेल की तैयारी में व्यतीत होती हैं। इसी धूमिल-धूमिल स्वर्णिम प्रकाश और छाया की समन्वयभूमि पर जिस साहित्य की रचना होती है वह जीवन की एक नई सूझ एवं युक्ति के साथ प्रस्तुत करता है। मनुष्य के जीवन में सदा दो विरोधी भावनाओं में द्वन्द्व चलता है। एक विरोध हृदय में होता है दूसरा बहिर्जगत में। इस द्वन्द्व में जब अपनी सद्वृत्तियों की पराजय हो जाती है, मन की बातें मन ही में लेकर एक उष्ण साँस छोड़ना पड़ता है—तभी ट्रेजेडी हो जाती है। द्वन्द्वों के अभाव में हमारा जीवन एकरस हो जाता है—उसमें गतिशीलता का अभाव रहने के कारण प्रगति नहीं हो पाती।

हम जानते हैं, जीवन के व्यापार ही साहित्य में वाणी पाते हैं। वह उसका प्रतिबिंब है; प्रतिच्छाया है। नाटकों में जीवन का चित्रण जितना यथार्थ रूप में हो सकता है उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं। जीवन से अतिनिकट रहने के कारण उसके द्वन्द्वों का सफल प्रकटीकरण ही नाटक का प्राण माना जाता है। यही कारण है कि कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुंतल' शेक्सपियर का 'मैकबेथ' आदि नाटक साहित्य में उच्च स्थान पर सुशोभित हैं। लेकिन, जीवन के पहलुओं के चित्रण में लेखक के व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण उसमें

भिन्नता भी होती जाती है। जीवन को किस कलाकार ने किस दृष्टि से देखा है—उसकी कटुता से वह ऊब गया है या सौन्दर्य से मुग्ध—इसका प्रभाव उसके नाटक के कथानक संस्कार पर पड़ता है। और परिणति से तो यह भावना एकदम स्पष्ट हो जाती है। यदि वह हार्डी हुआ तो जीवन की विषादमयी रजनी में पात्रों को लुढ़काने में—तड़प-तड़पकर कष्ट सहने और मुँह पर 'ऊफ़' नहीं लाने में, भाग्य को ही सर्वथा दोषी ठहराने में—ही अपनी कला की सार्थकता देखेगा। कालिदास एवं भास के सामने जीवन का सौन्दर्य ही अधिक है। वे एक मस्त गायक की तरह वीणा बजाते हुए आते हैं—जिनसे करुण रागिनी तो निकलती है, पर 'सम' गिरते-गिरते आह्लाद की अमृत वर्षा ही होती है। इसीलिए हार्डी की रचनाएँ शेक्सपियर का मैकबेथ आदि दुःखान्त हैं, कालिदास इत्यादि सुखान्त नाटकों के चितेरे हैं। सुखान्त नाटकों में आरंभ से ही संयोग की प्रमुख भावना मिलती हैं; संक्रान्ति काल में भी जहाँ प्रत्यक्ष रूप से ट्रेजेडी हो रही है, एक ऐसा अंकुर छिपा रहता है जिससे कॉमेडी की आशा सदैव बनी रहती है और यही बीज नाटक को मधुमय अंत की ओर खींच ले जाता है। दुःखान्त नाटकों में बहुधा, आरम्भ में विषम परिस्थितियाँ रहती हैं, मध्य में परम आनन्द-मय वातावरण आता है जिससे दर्शक कॉमेडी के लिए तैयार हो जाता है, फिर एक झटके के साथ सारा खेल बिगड़ जाता है और अन्त में विषाद भरे हृदय से दर्शक लौट जाता है। किसी नाटक में सिर्फ अन्तिम भाग के सुख-दुख को ही देखकर उसे सुखान्त या दुःखान्त नहीं कहा जा सकता। यदि नाटक ट्रेजेडी हो तो आरम्भ से ही वातावरण धूमिल दीखती है। पात्र हँसते हैं, पर रोने की आशा लगाए ही। ये

जीवन से भयभीत रहते हैं—न जाने कब कौन-सा वेग इन्हें डुबो दे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'प्रसाद' में पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यता का अपूर्व संमिश्रण है। दोनों सभ्यताओं में जीवन के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं।[1] हमारे यहाँ जीवन पथ का पथिक आशावादी होकर, भगवान् की दया का भारवहन करता हुआ, आनन्दोपलब्धि की खोज में भटकता है। देव प्रवृत्तियों की विजय और आसुरी शक्तियों का पराजय दिखाना यहाँ के नाटकों में अभीष्ट है। यूरोप वाले जीवन की यथार्थता के अधिक कायल हैं—उनके यहाँ मनुष्य के अरमान कभी पूरे नहीं होते दीखते अतः ट्रेजेडी आवश्यक मालूम होती है। क्रिश्चियन धर्म में पूर्वजन्म में विश्वास नहीं रहने के कारण कर्म और फल में भारतीय शास्त्र की तरह सम्बन्ध नहीं है। वहाँ की सभ्यता का आधार भौतिक होने के कारण निराशा का नग्न नर्त्तन जीवन में अवश्यंभावी समझा जाता है। हमारे यहाँ नैराश्य कायरता का लक्षण माना जाता है। आज की दीनावस्था में भी विगत वैभव की यादकर हम भविष्य में उठने, जागने एवं चेतन होने की आशा लगाए बैठे हुए हैं। हम यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि एक न्यायपरायण, सदाचारी नायक का अन्त दुःखपूर्ण हो और वह खलों से सदा पीड़ित ही होता रहे। हाँ, क्षणिक पराजय उसे होती है, पर बाद में उसका उत्कर्ष दिखाना ही भारतीय संस्कृति का तकाजा होता है। इसीलिए भारतीय नाटक सुखान्त होते हैं। प्रसाद के नाटकों

---

[1] इसीलिए एक कवि ने कहा है—

'East is east and west is west,
And never the turn shall meet.'

में दुःखान्त-सुखान्त का एक अजीब मिश्रित रूप मिलता है—भारतीय भी, यूरोपीय भी। अतः किसी एक को निश्चय करने में उलझनें बढ़ जाती हैं।

बौद्ध दर्शन से प्रभावित होने के कारण यहाँ करुणा की एक पतली धारा आद्योपान्त प्रवाहित रहती है। यह सुखवाद से ऐसी लिपटी हुई है जिसे एकांगी देखना, प्रायः कठिन ही होता है। सुख के नीचे सर्वत्र आहों की एक अन्तर्धारा प्रवाहित रहती है। कष्ट में भी जीवन का वरदान आँसुओं के रूप में पाते हैं।[1] इनके पात्र अन्त में हँसते-हँसते भी एक गर्म साँस छोड़ देते हैं। अतः, यह कहा जाता है कि इनकी दुःखान्त भावना एक नैराश्यपूर्ण शांति है। प्रसाद की कोमल वृत्तियाँ नारियों के व्यक्तित्व के ही चारों ओर घूमती रही हैं, अतः उनके नाटकों की ट्रजेडी अधिकांशतः नारी ट्रेजेडी है। इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि यह दुःख करुणा की सूक्ष्म स्मित के साथ आता है, भय का भयंकर अट्टहास लिए नहीं। इसीलिए प्रसाद के नाटकों का अन्त न तो दुःखान्त माना जाता है, न सुखान्त—वह उनकी अपनी कोटि है। उन्हें 'प्रसादान्त' कहना ही उचित होगा।

'ध्रुवस्वामिनी' की नायिका हमारे सामने अन्तर का अपमान और वेदना की आँधी लिए आती है। उसकी दयनीय अवस्था पाठक के मन में सहानुभूति उत्पन्न कर देती है। रामगुप्त का विलासमय जीवन और ध्रुवस्वामिनी पर असंगत नियं-

---

[1] "पड़ रहे पावन प्रेम फुहार, जलन कुछ-कुछ है मीठी पीर,
सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर।'
—चन्द्रगुप्त

अरण उसे कापुरुष बनाने में अनुकूल प्रभावित होते हैं। दोनों पति-पत्नी एक दूसरे की पृष्ठभूमि में खड़े किए गए हैं जिसके फलस्वरूप एक के प्रति घृणा और दूसरे के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। इन दोनों भावनाओं का विकास नाटक में उत्तरोत्तर होता गया है। शक अवरोध उपस्थित होता है और फिर जब संधि-प्रस्ताव लेकर राजदूत आता है उस समय रामगुप्त का उत्तर सुनकर पाठक विस्मय से अवाक् रह जाता है। घृणा से उसका मन एकबारगी भड़क उठता है—इतनी नीचता, छिः! शकराज की मृत्यु के बाद की घटनाएँ रामगुप्त को सामंतों एवं धर्माचार्य की दृष्टि में भी नीचे गिरा देती हैं। रामगुप्त, शकराज की हत्या सुनकर ध्रुवस्वामिनी से मिलने आता है, उसके द्वारा अधिकृत सत्ता में हिस्सा बँटाने आता है और मार्ग में कोमा तथा उसके निर्दोष पिता की हत्या कर देता है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को बंदी बनाने से आग और भी भड़क जाती है। इन कारणों के कारण वह ध्रुवस्वामिनी के अयोग्य समझा जाता है, राज्यच्युत होता है। स्वार्थपरता उसे चन्द्रगुप्त की हत्या करने को बाध्य करती है, पर विधि का विधान, वह स्वयं तलवार की भेंट चढ़ जाता है।

प्रत्यक्ष में तो रामगुप्त की हत्या से नाटक दुःखान्त ही माना जायगा। पर सम्पूर्ण नाटक के वस्तुतत्व का विश्लेषण करने पर दर्शक को आनन्द ही होता है। अंतिम भाग में रामगुप्त एक खलनायक के ही रूप में आता है। ध्रुवस्वामिनी ने जिन दो फलों को प्राप्त करना चाहा था—चन्द्रगुप्त से प्रेम और महादेवी पद की सार्थकता—वे उसे अंत में मिल जाती हैं। ध्रुवस्वामिनी-जनित सहानुभूति के कारण पाठक रामगुप्त से बहुत दूर चला जाता है। वह अपने कार्यों से ऐसा गिर जाता है कि पाठक

क्षण क्षण में उसकी दुर्दशा चाहता रहता है। अन्त में उसकी हत्या एक हर्षोत्पादक विषय हो जाती है। ध्रुवस्वामिनी के फल-प्राप्ति में रामगुप्त बाधक था—अतः, कंटक दूर होने के कारण मार्ग साफ ही हो जाता है। अतः, नाटक शोकान्त न होकर सुखान्त हो गया है। लेकिन अन्य नाटकों की तरह यहाँ भी करुणा परोक्ष रूप से व्याप्त है। नाटक के अंत-अंत तक पाठक सरल स्निग्धमयी कोमा को नहीं भूल पाता। उसकी हत्या, असफल प्रेम आदि एक करुण आह बनकर नारी ट्रेजेडी की कहानी आज भी कह रहे हैं। अतः, प्रसाद ने अपनी नवीन शैली में ही इस नाटक का भी अन्त कराया है। ध्रुवस्वामिनी को 'प्रसादान्त' कहना ही युक्तियुत होगा। यहाँ हर्ष-विषाद की एक धूप-छाँह है—पीड़ा भी है, आनन्द भी है; आँसू भी है, स्मित की चाँदनी भी है—

'चलो चलें अब धूप-छाँह वाली उस दुनिया में सजनी,
ओ अजान मुग्धे! मिलता है पीड़ा में आनन्द वहाँ।'

१०

'ध्रुवस्वामिनी' का युग

प्रसाद का आकर्षण इतिहास के उस भाग से अधिक है जिसे हम 'स्वर्णयुग' कहते हैं। जनमेजय के राजत्वकाल से लेकर हर्षवर्द्धन तक के बीच का काल भारतवर्ष के इतिहास में धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रों में अपने चरम उत्कर्ष पर था। जिस प्रकार विलियम मौरिस, इटालियन शिल्पी 'राफेल' के पूर्ववर्ती चित्रकारों के युग में अपने को पहुँचाकर उन्हीं के चित्रों से आधार ग्रहण करता था, उसी प्रकार प्रसाद-जी गुप्तकालीन युग की लोरियों से अपनी कल्पना को सहलाकर हमें उसी युग की वस्तु प्रदान करते हैं। यहाँ के सभी पात्र उसी युग के जीते-जागते, चलते-फिरते चित्र-से मिलते हैं। नाटकों के ऐतिहासिक होने के नाते प्रायः सभी पात्र किसी न किसी रूप में राजवर्ग से संबंधित रहते हैं। यह काल एक संक्रांति का काल था—समाज की रूढ़ि में गाठें कसती जा रही थीं, धर्म का बंधन भी पिसता जा रहा था, राजनीति के क्षेत्र में कमजोर शासक से हल-चल और अशांति की मात्रा और भी बढ़ गयी थी।

सामाजिक परिस्थिति

'ध्रुवस्वामिनी' में हमें समुद्रगुप्त के बाद के गुप्तकालीन समाज का चित्र मिलता है। उन दिनों का समाज अपने संगठन में स्त्रियों का महत्व तो अवश्य स्वीकार करता था, पर कुछ

विलासी युवकों के कारण उच्छृङ्खलता की भी वृद्धि हो रही थी। राजवर्ग का तो वायु-मण्डल एकदम दूषित हो गया था। आमोद-प्रमोद की धूम थी। नर्तकियों का आयोजन था। मद्यपान की व्यवस्था थी। प्रजा में भी वासना की लहर फैल चुकी थी। स्त्रियाँ आवश्यकतानुसार पुरुष-वेश धारण कर सकती थीं।

पुरुषों की शक्ति स्त्रियों से अधिक थी—उच्छृङ्खलता की दिनों-दिन वृद्धि हो रही थी। समाज में उनका ऊपरी आदर था। उनके सभी अधिकारों पर पुरुष नियंत्रण की मुहर थी। 'ध्रुवस्वामिनी में गुप्तकाल के जिस अंश का चित्र प्रस्तुत किया गया है उस काल में अधिकारीवर्ग की नारियों का भी अपना अधिकार नहीं था। यहाँ 'स्कन्दगुप्त' की अनन्तदेवी-सी कोई नहीं—न ध्रुवस्वामिनी, न कोमा। इन नारियों का परामर्श कभी मान्य नहीं था। राजकीय मंत्रणा को कौन कहे, अपने दैनिक जीवन के विषयों पर उन्हें बोलने का, अपनी सम्मति देने का कुछ भी अधिकार नहीं था। राजमहिषी को अपनी दासियों से भी अपमान ही मिलता है। स्त्री किसके अधिकार में रहे—पुरुष के या अपने?—यही प्रश्न उन दिनों सर्वोपरि। 'जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है उसके सम्बन्ध में पुरुषवर्ग एकदम सतर्क था। पत्नी कहलाने वाली स्त्री से मानों उसका कोई संबंध ही नहीं। पति केवल उसे पातिव्रत्य की शिक्षा[1] देता है, स्वयं अपनी जिम्मेदारी वह नहीं

[1]तुलसीदासजी के विचार देखिये—

'वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किय अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना
एकइ धर्म एक व्रत नेमा, काय-बचन-मन पति-पद-प्रेमा'—अरण्य काण्ड।

निभा पाता। नारी को तो केवल संसार की छोटी-मोटी कठिनाइयों में रहकर स्वामी की अंतःकरण से मंगल करना ही अपेक्षित समझा गया।

जब देश में कोई विशेष नियम प्रतिष्ठित होता है तब वह एक ही दिन में नहीं, बहुत धीरे-धीरे सम्पन्न होता है। जो लोग उसे सम्पन्न करते हैं वे पुरुषों के अधिकार की सहायता से ही करते हैं। उस समय वे पिता नहीं होते, भाई नहीं होते, पति नहीं होते—होते हैं केवल पुरुष। जिन लोगों के लिए नियम बनाए जाते हैं, वे भी आत्मीया नहीं होतीं—होती हैं केवल नारियाँ। अतः जो कुछ भी विचार होता है वह सामूहित रूप से पुरुषों द्वारा उनके अपने स्वार्थ के लिए ही होता है। पुरुष उस समय पिता बनकर कन्या के दुख का विचार नहीं करता। उसके सामने केवल एक ही ध्येय रहता है कि स्त्रियों से किस प्रकार और कितना मूल्य वसूल कर लिया जाय। इसके बाद मनु आते हैं, पराशर आते हैं, पॉल आते हैं—श्लोक पर श्लोक बनने लगते हैं, शास्त्रों की रचना होने लगती है। और तब स्वार्थ को सामाजिक क्षेत्र में धर्म बनकर मजबूत हाथों से शासन करने का अधिकार मिल जाता है। देश का पुरुष समाज व्यासदेव होता है और शास्त्रकार केवल उस समाज के बनाए हुए नियमों के लिखने वाले गणेशजी। सभी देशों के शास्त्रों का निर्माण बहुत कुछ इसी प्रकार हुआ है। यही कारण है कि नारियाँ सदा स्वत्वहीन हैं—वे बोलना चाहती हैं, पर शक्ति ही नहीं है—उन्हें सुनता कौन है? जिस पर फ़रियाद है, वही काज़ी बना बैठा है, आर्त्त अपनी पुकार किसे सुनाए! गुप्तकाल में भी नारी की स्थिति इसी डगमग पीठिका पर ही थी।

इस युग के पुरुष ने शास्त्र को अपनी आंतरिक अभिलाषाओं से मेल खाने लायक ही बनाया था।[1] प्रतिकूल नियमों को वह अधिक दिनों तक चलने नहीं देता। हो सकता था कि किसी विशेष अवस्था में वह शास्त्र किसी को दुःख भी दे, लेकिन साधारण इच्छा के दबाव के कारण वह दुःख स्थायी तो होने ही नहीं पाता, उल्टे उत्कृष्टता धर्म का रूप धारण करके और परलोक में सौगुना सुख मिलने का आश्वासन देकर मनुष्य को परितृप्त कर देता है। पुरुषों का क्षणिक दुःख तो क्षण भर में ही जाता रहता है, लेकिन जिसे सदा कष्ट की भट्टी में तपना पड़ता है, वह है नारी! 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा में यही रूप स्पष्टतया व्यक्त है।

धार्मिक अवस्था

प्रसाद के नाटकों में युग के क्रमिक विकास के साथ ही साथ समाज में धार्मिक व्यवस्था के विकास का क्रम भी परिलक्षित होता है। महाभारत के बाद वैदिक क्रियाओं का सम्मान था। जनमेजय के युग में क्षत्रिय-ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-ब्राह्मण

---

[1] यूरोप में प्रचलित पाँच हज़ार वर्ष की एक कानून की पुस्तक में उस समय की सामाजिक व्यवस्था के नियम मिलते हैं। भारतीय कानूनों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए पाठकों के लाभार्थ उन्हें नीचे दिया जाता है।—(i) "If a wife hates her husband and says, 'Thou are not my husband,' into the river they shall throw her."

(ii) If a husband says to his wife—'Thou art not my wife' half a wing of silver he shall weigh out to her and let her go. कितना सूक्ष्म न्याय है !!!

का परस्पर संघर्ष स्पष्ट है। अजातशत्रु के काल में बौद्ध धर्म की प्रधानता थी। मौर्यकाल में वैदिक प्रथाओं का प्रचलन था। इसके बाद गुप्तवंशीय सम्राटों में सामाजिक हित के लिये वैवाहित बन्धन की सार्थकता-असार्थकता का प्रश्न छिड़ा। 'ध्रुवस्वामिनी' की धार्मिक समस्या अनमेल विवाह को सुष्ठु एवं कल्याणकारी रूप देने की समस्या है। पति के जीवित रहने पर भी, उसके अत्याचार, उसकी असमर्थता के कारण उसकी पत्नी जन्म भर उसके पैरों के नीचे पड़ी रहकर कराहती रहे या नवीन पति निर्वाचित करे?—इसी प्रश्न के समाधान में 'ध्रुवस्वामिनी' का नाटककार व्यस्त है।

इन प्रसंगों पर शास्त्र के जो वाक्य हैं वे प्रायः थोथी आवाज में ही बोलते हैं। नारी का स्थान उनकी दृष्टि में ठीक उतना ही है जितना बच्चे के सामने मिट्टी के खिलौने का मूल्य है। उसे जब चाहा रखा, जब चाहा बेंच दिया, जब चाहा तोड़ दिया। अतः उन पर लागू किये गये नियमों के मूल में पुरुषों की अपनी इच्छा तथा अभिरुचि ही असत्य बात है और वही समाज की वास्तविक सुनीति है। पुरुष अपनी स्त्री की आँखों के सामने ही अन्याय तथा अधर्म करेगा और अपने सतीत्व को अक्षुण्ण रखने के लिये उसकी स्त्री एक बात तक मुँह से नहीं निकाल सकेगी,—क्योंकि शास्त्रों का वाक्य ठहरा![1] यहाँ तक कि पुरुष के वीभत्स तथा जघन्य रोग भी उसे जान-बूझकर अपने शरीर में संक्रामित करने पड़ेंगे। इसी में नारी का गौरव समझा जाता है!! समाज पुरुषों की भूल

---

[1]'विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ मनु० ५।१५४

और भ्रान्ति को सोलहो आने क्षमा कर दे तो कर दे, नारी की एक पाई भी क्षमा न करेगा। कारण है सिर्फ पुरुष की जबर-दस्ती और ज्यादती। समाज का अर्थ उसकी समझ में केवल 'पुरुष' है 'नारी' नहीं। काम घृणा का विषय है, अतः पुरुष नारी से घृणा करता है। उसे वैसा अधिकार है, नारी को वह अधिकार नहीं दिया गया। पुरुष चाहे कितना भी घृणित क्यों न हो, वह उसका स्वामी है। शास्त्र ने ढोल पीट-पीटकर कहा है, भला स्वामी से स्त्री घृणा कैसे कर सकती है। सती स्त्री के लिये तो वह देवता है।

अन्य देशों में भी स्त्रियों की यही अवस्था थी।[१] लेकिन समाज ने मोक्ष (Divorce या तलाक) की व्यवस्था से वहाँ की रमणियों के लिए कुछ मार्ग निकाल दिया है। लेकिन यह हम लोगों का जो स्वयं भगवान का देश है, जिस देश के शास्त्रों के समान और कहीं शास्त्र नहीं है, जहाँ के धर्म के समान लोकोपकारी और कहीं धर्म नहीं है, जहाँ जन्म न लेने पर मनुष्य मनुष्य ही नहीं हो सकता, उस देश की नारियों के लिए इतना भी रास्ता खुला नहीं रखा गया। इस देश के पुरुष स्त्रियों के हाथ-पैर बाँधकर उसे खूब मारें पीटें और जब वे

---

[१] यूरोप के मध्ययुग में स्त्रियों की दशा (तलाक के पूर्व) कैसी थी इसका उल्लेख मिलता है—

'Church's irrational rigidity as regards divorce tended to foster disorder and shame. Sexual disorder increased, woman became cheaper in the esteem of men, and the narrowing of her interest to domestic work, the desire to please men proceeded apace.'
—K. Pearson के 'Ethics of free thought' से।

कुछ भी प्रतिवाद नहीं करें तभी वे उछल-उछलकर सारी दुनिया में हल्ला मचाकर कहा करते हैं कि इस देश की तरह सहिष्णु स्त्रियाँ विश्व में अन्यत्र कहाँ मिलने वाली हैं ? सचमुच वे देवी हैं ।

आज का समाज उपेक्षितों पर अत्याचार नहीं देख सकता । प्रसादजी की मानवता को नारी की इस दयनीय दशा से काफी सहानुभूति हो गयी । नारी के अस्तित्व को समाज से उड़ा देने में उन्होंने समाज की ही हानि देखी । प्राचीन धर्म-शास्त्रों को उलटने से उन्हें कुछ ऐसी व्यवस्था भी मिली जिसके अनुसार विवाह का बंधन कमजोर होने पर दूसरा मजबूत बन्धन बाँधने की स्वीकृत मिलती है ।[१] नारी के प्रति इतना उदासीन रहने पर भी उन आचार्यों ने जो कुछ भी लिखा है, उससे उन महाभागों का कुछ लाभ हो ही जाता है । 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसादजी ने भारतीय परंपरा से ही धर्मशास्त्र का सहारा लेकर ध्रुवस्वामिनी के पुनर्विवाह की व्यवस्था की है । सामाजिक तथा धार्मिक आदि नियम कर्त्ता महर्षि मनु ने लिखा है—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥

—मनु० ६।७६ (पृ० १५१, तृ० सं०)

---

[१] St. Ambrose के अनुसार 'Marriage could not have been God's original theme of creation.' इसके विरोध में यूरोप के एक पुराने धर्मशास्त्री श्री निकोल्म का कथन है—'Shall the maid Olympias learn philosophy ? By no means, Woman's philosophy is to obey laws of marriage.'

[यदि पति धर्मकार्य के लिए विदेश जाय तो आठ, विद्या पढ़ने के लिए जाय तो छः तथा इन्द्रिय उपभोग के लिए जाय तो तीन वर्षों तक पत्नी उसकी बाट देखे और तत्पश्चात् पुनर्विवाह कर लेवे।]

महर्षि पराशर ने भी कुछ इसी तरह का कानून बतलाया है—

'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्च स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥'

[यदि किसी स्त्री का पति नष्ट हो जाय, मर जाय, क्लीव हो जाय, पतित हो जाय या सन्यासी हो जाय तो वह दूसरे पति का वरण करती है।]

नारद ने भी क्लीव पतियों से पत्नियों को अलग रहने के लिए ही कहा है—

'अपत्यार्थम् स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनोनराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥'

[स्त्रियों की सृष्टि संतानोत्पत्ति के लिए ही है। स्त्री क्षेत्र है, पुरुष बीज। क्षेत्र (स्त्री) को बीजवालों (पुरुषों) को ही देना उचित है, अबीजी (नपुंसक) के वह योग्य नहीं]

ऊपर के उद्धरणों में पति की अनुपस्थिति में पुनर्लग्न की व्यवस्था तो स्पष्ट है, पर नारद और पराशर में उसकी क्लीवता पर अधिक बल दिया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में रामगुप्त के चरित्र में यही गुण सर्वोपरि है। कार्य एवं मस्तिष्क—दोनों—से वह स्त्रैण प्रमाणित हो जाता है। इस प्रसंग में आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य का मत (धर्मस्थीय प्रकरण का) भी उल्लेखनीय है—

'नीचत्व परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोपिवायतिः ॥'

[यदि पति नीच हो जाय, परदेश चला जाय, राज्य से निकाल दिया जाय, क्लीब हो या मर जाय तो स्त्रियाँ मनोनुकूल दूसरे पति का चुनाव कर सकती हैं।]

पराशर के मत से इसका भी साम्य है। इन सभी प्रमाणों में जिन पाँच अवस्थाओं में अन्य पति ग्रहण का आदेश दिया गया है उनमें केवल मृत्यु को छोड़ अन्य चारों आपत्तियाँ पति के जीवन में ही उपस्थित हैं। क्लीबता उनमें सबसे प्रबल कारण है। अब इतना निश्चित हो जाता है कि ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष की आज्ञा शास्त्रसम्मत ही मिली। अब विचारणीय प्रश्न रहता है कि किससे विवाह किया जाय। सगोत्र विचार उचित है या नहीं?[1] जहाँ तक सम्भव हो मनु भगवान् पति के कनिष्ठ भ्राता (देवर) से ही विवाह करने का आदेश देते हैं—

'तामनेन विधानेने निजो विन्देत देवरः।' मनु० ९।६९ (पृ० १५०, तृ० सं०)

इस विधान के अनुसार ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त के

---

[1] इस संबंध में हरबर्ट स्पेन्सर की Sociology नामक पुस्तक में उद्धृत 'वेशपाज' के आदिम निवासियों की एक प्रथा का उल्लेख अप्रसंगित नहीं होगा।—'The brother of the deceased at once took her (the widow) as his wife even if he was married : and if he did not, another relation had a right to her.' असभ्य मपुची जाति के सम्बन्ध में कहा गया है—'A Mapuchi widow, by the death of her husband, becomes her own mistress, unless he may have left grown up sons by another wife; in which case she becomes their common concubine (रखनी) being regarded as a chattel naturally belonging to the heirs of the estate.'

कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त से विवाह करना उचित ही जँचता है। प्रसादजी ने यह विधान ध्रुवस्वामिनी पर जबरन नहीं लादा है। आरम्भ से ही एक तो ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी बनाकर दूसरे दोनों का दोनों के प्रति प्रचुर आकर्षण दिखाकर उन्होंने भारतीय मर्यादा की रक्षा करते हुए मोक्ष की आज्ञा दी है।

अपने प्राचीन समाज में प्रचलित एक अजीब प्रथा हमें यह दिखलायी पड़ती है कि स्त्रियों को सम्पत्ति मानकर मनमाना लूटपाट होता रहा है। जब किसी कन्या को कोई दूसरा हरकर ले जाता है तो वह अपना बहुत बड़ा अपमान समझता है; लेकिन जब वह स्वयं दूसरों की कन्याओं का अपहरण कर लाता है तब अपना बहुत बड़ा गौरव समझता है। इसीलिए जब एक पुरुष के पास स्त्रियों की बड़ी फौज रहती है तो वे उसका सम्मान और शौर्य का चिन्ह बन जाती हैं। धन की बहुलता से जिस प्रकार समाज में पुरुष आदर का अधिकारी होता है ठीक उसी प्रकार नारीधन की शून्यता में भी वह नगण्य समझा जाता था। वर्कहॉर्ट ने कहा है कि बहावियों (एक असभ्य जाति) में यह धारणा अब तक प्रचलित है कि जब वे सुनते हैं कि यूरोप में एक पुरुष के पास एक ही पत्नी रहती है तब वे अवाक् हो जाते हैं और कहते हैं—छिः यह भी कोई बात है! शकराज की प्रवृत्तियाँ इनसे भिन्न नहीं हैं। राजनीतिक प्रतिशोध के लिए वह अधिकाधिक नारियों की माँग ही पेश करता है।

प्रसादजी की मान्यता यह है कि स्त्रियों पर पुरुषों के काल्पनिक अधिकारों की मात्रा बढ़ा देने से समाज एवं राष्ट्र का अहित ही होता है, लाभ नहीं। वे नर और नारी का पवित्र

सम्बन्ध ही चाहते हैं। दोनों रथ के दो पहिए हैं—एक की बीमारी से दूसरा भी पंगु हो जायगा। दोनों जब समान भूमि पर ही चल सकेंगे तभी समाज का कल्याण होगा। अन्त में हरबर्ट स्पेन्सर के शब्दों में हम इतना ही कहेंगे कि इस समय मोक्ष के बारे में जो बहुत से सुभीते बढ़ गए हैं उनसे इसी बात की संभावना जान पड़ती है कि जिस समय स्थायी एक पत्नी प्रथा का विकास हो रहा था, उस समय कानून के द्वारा पुरुष और स्त्री को मिलाकर एक करना—जो मूलतः क्रय का ही कार्य था—विवाह का आवश्यक अंग समझा जाता था और चूँकि आजकल कानून के द्वारा दोनों का मिलकर एक हो जाना अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है और प्रेम के द्वारा दोनों का मिलकर एक होना कम महत्वपूर्ण माना जाता है, इसीलिए अब आगे चलकर एक ऐसा समय आवेगा, जब कि प्रेम के द्वारा दोनों का मिलकर एक हो जाना अधिक महत्वपूर्ण समझा जायगा और कानून के द्वारा दोनों का मिलना गौण माना जायगा। इसीलिए आजकल वे विवाह सम्बन्ध निन्दनीय तथा त्याज्य समझे जाते हैं जिनमें प्रेम के द्वारा दोनों का एकीकरण नहीं होता।[१]

---

[१] Already increased facilities for divorce point to the probability that whereas, while permanent monogamy was being evolved, the union by Law (originally the act of purchase) was regarded as the essential part of marriage and the union by effection as non-essential, and whereas at present the union by Law is though the most important; and the union by effection the less important; there will come a time when the union by effection will be held of primary moment and the union by Law as of Secondary moment: whence reprobation of marital relations in which the uni on by effection has dissolved.—'Sociology.'

राजनीतिक अवस्था

प्रसाद के प्राय: सभी नाटक संघर्ष—किसी न किसी बाहरी आक्रमण—से अवश्य संबंध रखते हैं। मौर्यकाल में सिकन्दर की चढ़ाई है, बाद में पुष्प मित्रों का आक्रमण है, हूणों का आक्रमण है। गुप्तकाल में शकों का आक्रमण ही प्रधान है। 'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक की जटिलता, जीवन का संघर्ष शक-आक्रमण से ही प्रारम्भ होता है। ऐसा लगता है एक बार के पराजित शक, बाद में शक्तिशाली होकर फिर चढ़ आए थे और उनका दबदबा बढ़ रहा था। गुप्तवंश के शासक में न तो इतनी शक्ति थी, न साहस, न बुद्धि कि वे प्रत्याक्रमण कर सकें। केन्द्रीय शासन अव्यवस्थित था। अधिकार का प्रयोग दलितों को कुचलने में किया जाता था। राजा चकमक-पसंद बनते जा रहे थे। इन कमजोरियों से लाभ उठाकर शक अपने अभीष्ट की सिद्धि में संलग्न थे। इसी कमजोरी ने शकराज को रामगुप्त के पास ध्रुवस्वामिनी तथा अन्य सामन्त-स्त्रियों की माँग के लिए, प्रोत्साहित किया था।

मालव भी अपना सिर उठाए हुए थे। उन दिनों इनका स्वतंत्र अस्तित्व था। 'उसने (चन्द्रगुप्त ने) स्त्री वेश धारण करके किसी शक-नरपति को मार डाला था। पर पश्चिमी मालव और सौराष्ट्र उसके समय में भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे।'[1] बात यह थी कि समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय के द्वारा अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और गुप्तकुल की लक्ष्मी की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल चुकी थी। यही समृद्धि सभी को आकर्षित कर रही थी। अशक्त रामगुप्त के राज्यारोहण के बाद

[1] 'स्कन्दगुप्त' का परिशिष्ट (पृ० १५, पं० सं०)

सभी अपनी सत्ता जमाने के लिए बेचैन हो चुके थे। 'ध्रुव-स्वामिनी' में इसी अव्यवस्थित गुप्तशासन की एक झलक मिलती है।

'ध्रुवस्वामिनी' के तृतीय अंक को देखने से पता चलता है कि उन दिनों भी आज की तरह प्रजातंत्र शासन (Democratic Govt.) की धूम थी। परिषद् का विशिष्ट स्थान था और उसकी मंत्रणा प्रजा एवं राजा को मान्य थी। राजवर्ग की उच्छृंखलता को दबाने के लिए परिषद् बागडोर का काम करता था। जिस प्रकार अंगरेज़ी इतिहास के मध्ययुग में पार्लियामेंट को भी राजा पर भी मुकद्मा (impeachment) चलाकर उसे दंडित करने का अधिकार था, सम्भवतः उन दिनों भी परिषद् को ये अधिकार प्राप्त थे। नाटक में भीषण परिस्थिति के अवसर पर शिखरस्वामी परामर्श देता है—'इस कलह को मिटाने के लिए हम लोगों को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए।........मैं कुल वृद्धों और सामन्तों को जो यहाँ उपस्थित हैं लाने जाता हूँ।' इस समय अन्य किसी भी शक्ति से रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी तथा ध्रुवस्वामिनी-चंद्रगुप्त के सम्बन्धों की जटिलता का निबटारा नहीं हो सकता था। परिषद् का आह्वान होता है और तर्क-वितर्क के बाद सभी पुरोहित की धर्माज्ञा से सहमत होकर निर्णय सुना देते हैं—'अनार्य! पतित और क्लीव रामगुप्त गुप्त-साम्राज्य के पवित्र सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।'

संक्रांति काल के प्रायः सभी नाटक सीधे राजतंत्र से संबंधित हैं। ये किसी न किसी राजनैतिक उथल-पुथल और अशान्ति की कहानी सुनाते हैं। इसी के फलस्वरूप यहाँ विप्लव, विद्रोह और रक्तपात के दृश्य मिलते हैं। इन राजनैतिक संघर्षों

का महत्व इतना अधिक बढ़ जाता है कि उनके आगे जीवन की अत्युत्तम वस्तु—स्नेह बंधन—को भी गौण स्थान दिया जाता है। राजनीति की धारा में लुढ़कते मानव को सामाजिक आचार-विचार का भी ध्यान नहीं रहता। मानों उसकी आँखों पर एक पट्टी बँध जाती है, उसके पैर डगमगाने लगते हैं और नहीं चाहते हुए भी वह अनीति कर बैठता है। शकराज के लिए कोमा को छोड़ना सहज था, उसके सुख-स्वप्नों का महत्व उसकी दृष्टि में उतना नहीं था जितना राजनीति एवं तज्जनित प्रतिशोध की भावनाओं का। यही कारण है कि शिष्टाचार की मर्यादा का भी अतिक्रमण करना उसे खटका नहीं। तभी तो मिहिरदेव कहते हैं—'राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक संबंध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझने की भूल कर सकते हो किन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना सबसे बड़ी हानि है।'

इस पुस्तक में प्रसाद ने युग के चित्र में राजनीतिक रंगों को कम करने की चेष्टा की है। सामाजिक एवं धार्मिक रेखाएँ भेजी हुई तूलिका से रंजित हैं—राजनीति का संबंध केवल कथानक को एक गति (push) देने भर की है अतः रंग गहरे नहीं दिए गए हैं। कुछ छू-छाकर (touches) ही कवि ने राजनीतिक परिस्थिति का खाका खींचने की चेष्टा की है।

११

'ध्रुवस्वामिनी' एवं प्रसाद के अन्य नाटकों के स्त्री-पात्र

प्रसाद के प्रारम्भिक 'सज्जन' तथा 'प्रायश्चित' नाटकों में आए स्त्री-पात्रों का कुछ भी महत्व नहीं है। 'कल्याणी परिणय' तथा 'करुणालय' आदि अन्य एकांकी रूपकों में कर्नेलिया तथा शुनःशेष की माता का थोड़ा-सा भाग है, पर न तो उनका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व है और न उनकी महत्ता ही। इन 'परीक्षा-काल' के नाटकों के बाद 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु' आदि नाटकों का स्थान है।

'प्रसाद' के स्त्री-पात्रों का अध्ययन करते समय हमें उनके भिन्न-भिन्न गुण-दोषों के वर्गीकरण का भी ध्यान रखना होगा। मुख्य वर्गीकरण इस प्रकार किए जा सकते हैं—

(क) राजनीति के [illegible] से खेलने वाली राजमहिषियाँ।

(ख) जीवन संघर्ष में प्रेम का अवलंब लेकर बढ़ने वाली स्वाभिमानिनी राजकन्याएँ।

(ग) अपने निःस्वार्थ बलिदान से नाटक में जान फूँककर एक करुण गंध छोड़ने वाली फूल-सी क्यारियाँ।

(घ) जीवन के चकोह में पड़ी मध्यवर्गीय दुर्बल नारियाँ जिनके जीवन में अपमान का ही द्वार खुला रहता है।

(ङ) कुचक्र रचने में प्रवीण दुर्बल हृदय नारियाँ।

'ध्रुवस्वामिनी' के स्त्री-पात्र पूर्वोक्त रूपक नाटकों के स्त्री-पात्र से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें न द्वन्द्व है, न आवेग, न आवेश, और न मानवीय गुण-अवगुणों की प्रधानता ही। ध्रुवस्वामिनी में हम 'अजातशत्रु' के वासवी का रूप देखते हैं—शान्त, धीर, दृढ़, उदार तथा त्याग की मूर्ति पाते हैं। पर जहाँ वासवी सभी सुखों को छोड़, अपने पुत्र से भी अलग हो पति की सेवा कर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करना चाहती है, वहाँ ध्रुवस्वामिनी इस सौभाग्य से सर्वथा वंचित है। इसे पति द्वारा इतना अधिकार ही नहीं मिला कि वह उसकी सेवा कर सके। उसकी सेवाओं को भी शायद उसका पति छलना की संज्ञा दे! वह चाहती है कि उसका पति उसे पत्नी रूप में देखे पर उसका राजत्व उसे पतित्व तक बढ़ने नहीं देता। और क्लीव भी तो ठहरा वह! उसके पास इतना विशाल हृदय कहाँ जिसमें ध्रुवस्वामिनी की प्रेम-वीणा एकाएक बजकर उसको सम पर हिला दे और वह पागल हो उठे। वह मल्लिका के पति-सा वीर भी तो नहीं है जिसके लिए 'वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयंकर ज्वाला हैं और वीरता के वरेण्य दूत हैं'[1] कहने का ध्रुवस्वामिनी गर्व करे। 'विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उसे अपने आनन्द से अवकाश कहाँ?'

'स्कन्दगुप्त' की जयमाला के समान वह भी क्षत्राणी तो है, राजमहिषी तो है, पर उसे वैसा साधन कहाँ, परिस्थिति कहाँ कि वह उनकी तरह कह सके, 'हम क्षत्राणी हैं चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर स्नेह है।' उसे इतना सौभाग्य

[1] अजातशत्रु, पृ० ८१.

कहाँ कि वह पति कहलाने वाले व्यक्ति को सजाकर रणभूमि में भेजे। जयमाला अपने पति से क्षमा माँगती है, 'पतिदेव! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गयीं। आज जो हमने पाया वह विश्व साम्राज्य से भी ऊँचा हो'[१]।

ध्रुवस्वामिनी ने भी रामगुप्त से (उसके पैरों को पकड़कर) विनती की थी 'मैं गुप्तकुल की वधू होकर इस राजपरिवार में आयी हूँ। मेरे और मेरे गौरव की रक्षा करो। आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ।' 'लेकिन उसका क्लीत्व तो इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी कहने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके।' वह राजा ही है, पर बंधुवर्मा-सा पति तो नहीं। उसका अपना अधिकार है, स्वत्व है। वह क्यों ध्रुवस्वामिनी की—नारी की—बातों को मान उसे क्षमा करे या उसे शरण दे!

'स्कन्दगुप्त' में भटार्क को सुधारने का कमला जिस प्रकार भर्त्सनापूर्ण विवेक उत्पन्न करती है, उसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी भी रामगुप्त को गुप्तकुल की मर्यादा का स्मरण करा पति का कर्त्तव्य तथा नारी के प्रति पुरुष का व्यवहार बतलाती है। लेकिन सभी जगह उसे हार ही मिलता है। राजा से हारती है, पति से हारती है और अपने जीवन की अमूल्य निधि अपने हृदय से भी हार जाती है। उसका जीवन तो कुछ कुछ वासवी, देवसेना मागधी तथा सरमा की ही तरह द्वन्द्वमय रहता है, पर क्षीण झरोखे से आने वाले प्रेम के आलोक के कारण ही वह कुछ सन्तुष्ट सी रहती है। यदि उसकी ज्योति मन्द पड़ जाय तो फिर उसके जीवन की भी वही इतिश्री है। 'जनमेजय का

---

[१] स्कन्दगप्त, पृ० ७५.

'नागयज्ञ' के सरमा से ध्रुवस्वामिनी का साम्य है। वह अपमान को सह नहीं सकती। उसका वक्षस्थल केवल अबलाओं के रुदन से ही आसावित नहीं है। उसके अपमान की धधकती भट्टी में राजसिंहासन को भी जलाने की ज्वाला है। वह राजकुल से अपमान का बदला लेना चाहती है। ओट से नहीं, प्रत्यक्ष होकर। वपुष्ठमा के अधिकारों को वह देख नहीं सकती। वह सच्ची प्रेमिका है। शायद ध्रुवस्वामिनी भी वैसा बन सकती थी। रामगुप्त का 'अहं' यदि ध्रुवस्वामिनी के पथ में पर्वत नहीं खड़ा होता तो शायद उसे चन्द्रगुप्त से उलझने की आवश्यकता नहीं रह जाती—वह गुप्तकुल की मर्यादा की परिधि में ही रहकर रामगुप्त की जीवन-संगिनी बन जाती है। पर उस 'अहं' की आँखों में वह अपनी आँखें नहीं डाल सकी। पीछे लौट पड़ी वह और फिर चन्द्रगुप्त के सिवा दूसरा अवलम्ब नहीं था। सरमा के सामने इतने प्रश्न नहीं हैं। वह वपुष्ठमा से द्वेष रखती है और वह इसलिए कि वह उसकी सौत है। फिर वही, उसे दुःखित तथा विनीत देखकर अपमान भूलकर उसे गले लगाती है।

'ध्रुवस्वामिनी' के कोमा का रूप 'प्रसाद' के 'राज्यश्री' में दिखाई पड़ता है। मौखरी ग्रहवर्मा की वह पतिपरायण, स्नेहशील विचारवती पत्नी है। पति का मन विह्वल है। भावी आशंकाओं से उद्विग्न देख एक पति के नाते उन्हें वह प्रबोध देती है—'नाथ! आप जैसे वीर पुरुषों को जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शान्त है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती हैं? कभी नहीं।'[1] किन्तु विवाद

[1] राज्यश्री, पृ० ५.

में असफल हो पति की इच्छा में ही आत्म संतोष कर लेती है—'जैसी प्रभु की इच्छा।' कोमा, शकराज को एक नारी के हृदय को कुचलने से रोकती है। अंत में वह समझती है—'अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकता हो उस दृढ़ता का, आकाश के लक्षण कुछ बना बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका-मात्र से दुर्बल, कंपित और भयभीत हो।' लेकिन राज्यश्री के 'जैसी प्रभु की इच्छा' में जहाँ समर्पण है, प्रेम की अन्तर्धारा है, वहाँ कोमा के—'मुझे विवाद करने का अधिकार नहीं। यह मैं समझ गई'—में टीस है, वेदना है, कुंठित प्रेम है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना में बाहर से तो अवश्य नियंत्रण तथा संयम परिचायक वाक्य मिलते हैं, पर भीतर-भीतर उसके जीवन को भी प्रेम की भावना ने कोमा की तरह रमणीक और आनन्दप्रद बना दिया है। बाहरी व्यथा में भी एक आनन्द मिलता है। पाषाण के भीतर बहने वाले मधुर श्रोत में भी जल की शीतल धारा बहती है। देवसेना अपने कुल की मर्यादा रखने के लिए अपने कोमल जीवन और प्रेम का बलिदान करने में संलग्न है। वह देश की पुकार के सामने अपने दिल की पुकार पर अर्गला चढ़ा देती है। स्कन्दगुप्त को विजया की ओर आकृष्ट होता देख उसके अंतर की प्रेमिका जाग उठती है। लेकिन फिर भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिक वृत्तियों का सहारा ले वह भावना से कर्त्तव्य को अधिक महत्वपूर्ण मानकर अपनी लालसा और वासना को एकबारगी स्कन्दगुप्त के मार्ग से हटा लेती है। वह देखती है कि इनके रहने से शायद स्कन्द के मार्ग में रुकावट हो और देश की क्षति हो। अपनी भावनाओं का गला घोंटना ही उसे श्रेयस्कर प्रतीत होता है। कोमा ने जब शकराज में ध्रुवस्वामिनी के रूप की प्यास देखी

तो उसने भी अपने पति के मार्ग को सुदृढ़ बनाने के लिए उसके कल्याण की ही बात सोची। यहाँ देवसेना और कोमा में भेद है। कोमा ने शकराज के ध्रुवस्वामिनी की चाट में अपने मंगल की आशा नहीं देखी और इसीलिए उसे उससे विमुख करने की चेष्टा की। लेकिन जहाँ देवसेना का प्रेम स्वार्थरहित है वहाँ कोमा का स्वार्थ से शून्य नहीं। यहीं दोनों का व्यक्तित्व दो धाराओं में बँट जाता है। यहाँ देवसेना का नारी रूप सामान्य मानव भूमि के स्तर से ऊँचा उठ जाता है। कोमा पूर्ण मानवी रह जाती है।

कोमा को देवसेना-सा साहस भी तो नहीं है। यद्यपि अंत मे दोनों को कौमार्य व्रत का ही पालन करना पड़ता है, फिर भी एक उसके लिए हँसते-हँसते तैयार होती है, एक परिस्थितियों से वाध्य होकर उसका आश्रय ग्रहण करती है। यहाँ भी कोमा से देवसेना का चरित्र उज्ज्वल दिखायी पड़ता है। एक ओर प्रेम का उत्सर्ग है, दूसरी ओर सरमा-सी कामना की ज्वाला, यौवन और सौन्दर्य के उपभोग की उत्कट इच्छा। देवसेना का प्रेमी (स्कन्दगुप्त) उससे अनुनय करता है—'एकान्त में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा! साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो।'[1] ऐसी परिस्थिति में किसी दूसरी नारी को (यदि कोमा ही इस परिस्थिति में रहती तो) 'हाँ' कहने में तनिक भी हिचक, संकोच नहीं होता; पर देवसेना कहती है—'आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। इस हृदय में..... आह, कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह आयगा।

[1]स्कन्दगुप्त, पृ० १५१

अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए; उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने आपको दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।''[1]

'चंद्रगुप्त' के सुवासिनी-सी कोमा पिता से प्रेम करती है। वह पितृभक्त बाला है। सुवासिनी नहीं चाहती कि उसके किसी भी कार्य से उसके पिता का सिर नीचा हो। कोमा भी पिता की आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं करती। मिहिरदेव कहते हैं—'चल कोमा। हम लोगों को लताओं, वृक्षों और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग के बाहर चल। इस बंधन को तोड़ डाल। यहाँ तेरी भलाई होती तो मैं चलने के लिए नहीं कहता।' मोह कोमा को पीछे खींचता है, पितृ-आज्ञा आगे बढ़ने का आदर्श देती है। कोमा सहज ही मोह के तंतु को एक झटके से तोड़ डालती है। 'जाना ही होगा? तो चलूँ? यही ठीक है। पिताजी! ठहरिए मैं आती हूँ।' वह पिता के आश्रय में चली जाती है। कर्नेलिया की तरह उसमें प्रेम का तत्व महत्वपूर्ण है। कर्नेलिया के जीवन के दो तार हैं—भारतीयतानुराग तथा प्रेम। कोमा का जीवन भी शान्ति और प्रेम के दो धागों से बुना हुआ है। एक यूनानी महिला है जिसे भारत की शस्यश्यामला भूमि ने आकृष्ट किया है और भारतीय प्रेम सिखलाया है। दूसरी भारतीय सीमा प्रान्तीय बाला है जो एक भारतीय के ही प्रणय-सूत्र में बँध जाना चाहती है। जहाँ कोमा के जीवन में हलचल है, शकराज की उदासीनता है, परिस्थितियों का झोंका है वहाँ कर्नेलिया के जीवन में वैसी हलचल नहीं। वह चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है और उसका प्रेम सदा शिष्ट रहता

[1] स्कन्दगुप्त, पृ० १५२।

है। चन्द्रगुप्त के प्रेम की बात वह पिता के सम्मुख स्वीकार करती है, 'मैंने अपराध किया है पिताजी! चलिए—इस भारत की सीमा से दूर ले चलिए नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी।'[१] कोमा, पिता से छिपकर प्रेम नहीं करती। उसका पिता तो उसके प्रेम में उत्तरोत्तर वृद्धि करने की ही कोशिश करता है, उसे सफल बनाने की आकांक्षा रखता है। फिर भी, जहाँ सिल्यूकस नहीं जानते हुए भी अपनी पुत्री को प्रसन्नकर उसे भारत की कल्याणी बनाने में समर्थ होता है वहाँ मिहिरदेव कोमा के प्रेम को प्रकट रूप से जानते हुए भी शकराज को उसके अनुकूल नहीं बना पाते। वे करते क्या? परिस्थिति ही ऐसी थी, झुकना ही पड़ा।

मन्दाकिनी का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं। वह प्रसाद की मौलिक कल्पना की आधार शिला पर स्थित है। उसमें निस्पृह बलिदान की आभा है। यौवन की तरुणाई है। दुःख सहने की क्षमता है। कष्ट निवारण करने की चेष्टा है। देवसेना में जिस प्रकार का त्याग है, देश सेवा है, सहिष्णुता है, मन्दा में भी वही लय है। देवसेना की तरह वह भी संगीत से प्रेम रखती है, जीवन में वह भी एक तान देखती है। इसीलिए कठोर कर्मों के बीच वह अपने को बदला लेती है। अपने हृदय के बिखरे तारों को सम्हाल लेती है। पर देवसेना का गांभीर्य जिस सीमा पर है मन्दा में उसका वही रूप नहीं। वह सभी चीजों को सामान्य दृष्टि से देखती है। वास्तविक रूप वहाँ प्रकट होता है जहाँ वह नारी का अपमान देखती है। देवसेना के जीवन का आदर्श 'एकान्त टीले पर सबसे अलग, शरद के

---

[१]चन्द्रगुप्त, पृ० २०६।

सुन्दर प्रभात में फूला हुआ फूलों से लदा पारिजात वृक्ष' है।[१] वह समष्टि में व्यष्टि चाहती है।

मन्दाकिनी, लोगों के साथ रहकर अपने जीवन वीणा के तारों को उनके सुरों में बँधने देती है। जैसे 'प्रसाद' के अन्य नारियों में हृदय पक्ष की प्रधानता है वैसे ही मन्दाकिनी में भी उसका हृदय ही मुख्य है। वह देवसेना के समान ही कर्त्तव्य को सर्वप्रथम देखती है। देवसेना कर्त्तव्य के पीछे कष्ट सहती है, क्योंकि 'कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या है, अग्नि है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए।' मन्दाकिनी भी सोचती है, 'मुझे अपने हृदय को कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए रुकना होगा।'

मन्दाकिनी की तरह 'जनमेजय के नागयज्ञ' की नागबाला मनसा अपनी जाति के लुप्त गौरव और संस्कृति की गाथा गा-गाकर सम्पूर्ण नागजाति को प्रोत्साहित करती है। इसके लिए अपने पुत्र तक का त्याग करती है। युवती होते हुए भी वृद्ध जरत्कारु से विवाह करती है। मन्दाकिनी भी वीरबाला है। वह अपने देश के उत्थान में तो भाग नहीं लेती पर गुप्तकुल की मर्यादा की गाथा तथा रामगुप्त की नीचता की कथा सुना-सुनाकर उसके तथा अन्य लोगों के बीच की भ्रान्ति को दूर करने की चेष्टा करती है। मृत्यु के मुँह में भी सामन्त कुमारों के साथ उद्बोधक गान गाते हुए जाने में वह नहीं हिचकती। नाटक के वक्र से वक्र परिस्थिति में भी वह साहस के साथ अपने कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ रहती है।

स्त्री-पात्रों में जिनका चरित्र पतित रहता है, जो वासना

तथा अर्थ लोभ से दूसरे के बहकावे में आकर अपनी मर्यादा तथा गौरव का विस्मरणकर तदनुकूल आचरण करती हैं, उनका 'प्रसाद' के नाटकों में पतन दिखाया जाता है। उन्हें अपने षड्यंत्र में आंशिक सफलता भले ही मिले पर अन्ततोगत्वा उन्हें पछताना ही पड़ता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में खड्गधारिणी ऐसी ही पात्री है। उसका अवतरण प्रथम अंक को छोड़ अन्य किसी स्थल पर नहीं है। 'अजातशत्रु' की छलना विंबिसार तथा बासवी के विरुद्ध षड्यंत्र रचती है, इसी तरह शक्तिमति, अनन्तदेवी, सरमा तथा विजया अपने राजा या पति के विरुद्ध षड्यंत्र रचकर अपने अभीष्ट की सिद्धि में प्रयत्नशील हैं। इनके हाथों में कुछ अधिकार है और इनका मस्तिष्क कुचक्र रचने में पटु है। खड्गधारिणी इतना छल प्रपंच नहीं जानती। वह अनुचरी मात्र है, राजभक्त है। राजा की आज्ञा से वह ध्रुवदेवी का भीतरी भेद लेने जाती है और घुमा फिराकर उसके भीतर चन्द्रगुप्त के प्रेम की गहराई नापना चाहती है। न तो वह छलना, शक्तिमति तथा अनन्तदेवी की तरह राजमहिषि होने के नाते कुछ अधिकार रखती है और न सरमा विजया की तरह राजघराने से घनिष्ठ सम्बन्ध ही। अर्थ का लोभ है इसे अतः वह रामगुप्त के आदेशानुसार ध्रुवदेवी को भड़काती है।

प्रसाद के नाटकों के पढ़ते समय आपको उसमें नारी के हृदय का रूप मोह तथा प्राणों में बैठी जिज्ञासा की टीस मिलेगी। उसमें एक ओर आह है तो दूसरी ओर उत्साह; कहीं द्वेष तो कहीं प्रेम; कहीं राग तो कहीं विराग। सभी अपने हृदय में एक अव्यक्त टीस छिपाए चलती हैं। किसी का जीवन पूर्ण रूप से सुखमय नहीं—सभी वेदना के भार से लदी रहती हैं,

करुणा के भार से दबी रहती हैं। गांभीर्य उनका विशेष गुण है, गान में विशेष रुचि है। इसका कारण 'प्रसाद' के व्यक्तित्व की छाप है। कवि, अपनी गंभीरता को नाटकों में छिपा नहीं पाया है। और इसीलिए उसके सभी चरित्रों में उसके व्यक्तित्व की साँस भरी पड़ी है।

१२

उपसंहार

साहित्य जीवन की समालोचना है—यह सिद्धान्त प्राय: सर्वमान्य हो गया है। जीवन की कटुता एवं हलचल को देखकर हम उसकी गम्भीरता से जब तक इतने भयभीत हो जाते हैं कि उसकी आलोचना करना हमारी सामर्थ्य के बाहर की बात हो जाती है। और सचमुच जीवन की जटिलताओं को देखकर वह कार्य सहज-सुगम नहीं दीखता। जीवन कोई ऐसी साधारण या छोटी बात नहीं है जिसके सम्बन्ध में कुछ सूक्ष्म और अमूर्त या उड़ती-उड़ती बातें कहकर पिण्ड छुड़ा लिया जाय। जीवन का अर्थ होता है सांसारिकता का आन्तरिक रूप और उसके बाहरी रूप के भिन्न-भिन्न पार्श्व। साहित्यकार का उत्तरदायित्व मानवता के प्रति है। उसके इस क्षेत्र में मानसिक-सामाजिक और राजनीतिक पचड़े भी आ जाते हैं। यह क्षेत्र बड़ा ही गहन है, इसीलिए कवि का कर्त्तव्य जटिल माना जाता है। मानव जीवन तथा ज्ञान के विविध अंगों में साहित्यकार का अध्ययन जितना प्रगाढ़ होगा, उसके जीवन सम्बन्धी विचार भी उतने ही पुष्ट एवं परिमार्जित होंगे। 'प्रसाद' की नाट्य-कृतियों के अध्ययन में हमने इसी विचार को व्यापक रूप से देखा है। और तब प्रसादजी हमें एक ऐसी आलोकमय पृष्ठभूमि में खड़े मिलते हैं जहाँ तक हिन्दी का कोई भी साहित्यकार नहीं पहुँच पाया है और भविष्य को

देखते हुए ऐसी आशा भी नहीं कि कोई वहाँ तक पहुँच पाएगा। पुरुष तथा स्त्री का सम्बन्ध मनुष्य की भौतिक महत्वकांक्षाएँ और तज्जनित उपद्रव, मनुष्य के धार्मिक विश्वास तथा जीवन से उनके सम्बन्ध—के विषय में प्रसादजी ने जितनी गहरी छानबीन की है और उसके फलस्वरूप जो कुछ भी निचोड़ नाटकों में रखा है उनको देखकर हम प्रसाद के प्रत्येक पात्र एवं उनकी विशिष्ट मनोवृत्तियों को एक 'टाइप' ही मानने को बाध्य हो जाते हैं।

आधुनिक युग ने यदि साहित्य में और कुछ किया हो या नहीं, बरसाती कीड़ों की तरह अनेक 'वादों' की सृष्टि अवश्य कर दी है। हमारी प्रवृत्ति इन्हीं वादों के विवाद में अधिक दत्तचित् है। प्रसाद-साहित्य पर भी यथार्थ तथा आदर्शवादों को लेकर विद्वानों ने काफी सरगरमी से बहस किया। छायावाद के तो प्रसाद प्रवर्त्तक थे ही, लगे हाथों लोगों ने उनकी रचनाओं में वासनामय प्रेम एवं मानवता विषयक भावनाओं के लिए प्रेमवाद, मानवतावाद आदि अनेक सार्थक एवं निरर्थक वादों की सृष्टि की। बात यहीं तक नहीं। जो कुछ बातें नहीं समझ में आयीं उन्हें 'अस्पष्टतावाद' की कोठरी में पटक दिया। जीवन का सर्वाङ्गीन सुन्दर देखने वालों ने प्रसाद के नाटकों में प्रकटित वीरता, साहस, क्षमा, उदारता, विश्वास, प्रेम आदि गुणों का अपूर्व उत्कर्ष देखकर उन्हें आदर्शवादी माना। इसके प्रतिकूल गहन सामाजिक अत्याचारों, स्वाभाविक विरोध एवं संघर्ष, मारकाट, इत्यादि का नाटकों में प्रदर्शन देखकर कुछ विद्वानों ने प्रसाद को यथार्थवादी माना। प्रसाद के निजी विचार में यथार्थवाद की—विशेषताओं में प्रधान है 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात जिसमें स्वभावतः दुख की प्रधानता और

वेदना की अनुभूति आवश्यक है।' लघुता से उनका तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। आदर्शवादी विचार के सम्बन्ध में प्रसादजी कहते हैं—'आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है, जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है।'[1] इस प्रकार अनेक मतानुसार आदर्शवादी सिद्धान्त से ही धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। और यथार्थवादी की परिधि इतिहासकार से विस्तीर्ण नहीं होती। यह सत्य है कि प्रसाद ने काव्यगत न्याय को अपना लक्ष्य नहीं बनाया। जीवन को उन्होंने जीवन की तरह ग्रहण किया—सुख भी देखा दुःख भी। सुख के आनंदातिरेक में यदि कोई प्रसाद का पात्र विभोर हो जाता है तो कर्मसंकुल जगत में उसके पैरों के नीचे काँटे भी बिछे मिलते हैं। यही कारण है कि प्रसाद के पात्र चित्रण में आदर्श और यथार्थ का झगड़ा नहीं। वे जीवन की कठोरतम परिस्थितियों में ही पलते हैं—सुख के समय गांभीर्य लिए आन्तरिक उद्गार अनुभव करते हैं, विषम वातावरण में होठों में स्मित छिपाए कर्मपथ पर चलते रहते हैं—अनवरत, शान्त, भारबोझिल। 'चंद्रगुप्त' तक तथाकथित आदर्श का बोझ कुछ भारी भी है, पर बाद के नाटकों में दोनों 'वाद' जैसे अपना द्वैत गिराकर एक होने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' की समस्या में एक ओर यदि मोक्ष प्रसंग से आदर्शवादियों को आधुनिक समाज के लिए

[1]काव्य और कला तथा अन्य निबंध।

ऐतिहासिक आदर्श मिलता है तो दूसरी ओर नारी के अन्तर की टीस लुढ़क-लुढ़ककर उस स्वर्णशशि को धूमिल करती दिखलायी पड़ती है। मानव स्वभाव एवं मानवता का लगाव प्रसाद के नाटकों में इतना अधिक दृढ़ है कि कोई भी वाद उस साँचे में आकर अपना स्वरूप खो बैठता है। प्रसाद का निजी आदर्श मानवता का आदर्श था जिसमें किसी विशेष 'वाद' को प्रश्रय नहीं दिया गया।

प्रसाद के अनुसार साहित्य जीवन का दर्पण नहीं, दीपक है। उन्होंने अपने अन्दर एक कमी महसूस की और यही रिक्तता समाज में भी दीख पड़ी। इस कमी को पूरा करने के लिए उनकी आत्मा मचल पड़ी। अपनी कल्पना के राज्य में कवि जिस प्रकार मानव को मानव रूप में स्वच्छन्द एवं सुखद वातावरण में देखना चाहता था वैसा वह दिखाई नहीं पड़ा। अतः वर्तमान मानसिक एवं सामाजिक विषम अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ गया। वह इन अप्रिय परिस्थितियों का अन्त करना चाहता है—कम से कम यह दुनिया जीने और मरने के लिए भी तो सुखद स्थान बन जाय! और इसके लिए उसने हाथों में मशाल उठा लिया। भविष्य के पथप्रदर्शन के लिए भूत का फोकस (focus) देना आवश्यक था।

प्रसाद का युग सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में आर्य समाज के आंदोलन को सक्रिय रूप देने में व्यस्त था। उन दिनों का मध्यकालीन प्राचीन रूढ़ियों एवं नवीन विचारों के बीच त्रिशंकु की तरह झूल रहा था। प्राचीन हिन्दू संस्कृति के आदर्शों की हँसी उड़ाई जा रही थी और अंधाधुन्ध शासनकर्त्ता की देखादेखी परिवार, समाज एवं उसकी संस्थाओं में परिवर्तन करने की आकुलता दिखलाई पड़ रही थी। प्रसाद ने सुधारवादी

आंदोलन को नवीन दृष्टिकोण से देखा और नवीन शैली द्वारा प्रकट किया। इस रोमान्टिक कलाकार ने समस्या को नग्न रूप में रखना उचित नहीं समझा। यथार्थ की अश्लीलता से ये पूर्ण परिचित थे। वस्तुवादी कलाकार समस्या को उपस्थित करके मौन ग्रहण कर लेता है—उसका समाधान उसे नहीं सूझता और यदि सूझता भी है तो वह उसे प्रस्तुत करने को अपना कर्त्तव्य नहीं समझता। प्रसाद में समस्याएँ जिस रूप में आई हैं वे इतनी संकेतात्मक हैं कि उनकी छाया ही समझ में आती हैं। साधारण पाठक को यह सहसा आभास भी नहीं मिलता कि उनके नाटकों में कोई वर्तमान समस्या भी है। और समाधान की प्रणाली तो इतनी सूक्ष्म है कि उसका प्रभाव तो हृदय पर अवश्य पड़ जाता है, पर यह ज्ञात नहीं होता कि हृदय कब और कैसे आन्दोलित हुआ। बहुत सोचने पर जब एकाएक हमें प्रसाद की मनोवृत्ति का ज्ञान होता है तो हम अवाक्-से हो जाते हैं—और तबतक नाटककार हमसे कब का विदा ले चुका रहता है। हमारे सामने वर्तमान समस्याएँ अतीत के धूमिल रंगों में एक अजीब साजबाज के रूप में दीखती हैं—जीवन की टीस वहाँ है, हमारे अन्तर का समवेदनामय रुदन वहाँ है, समस्या का वहाँ सुलझाव भी है, पर नाटककार का व्यक्तित्व अपना एक अमिट छाप छोड़ चुपके से खिसक गया रहता है।

यह बहुधा देखा जाता है कि कुछ विचारधाराएँ मनुष्य के मस्तिष्क में उठकर तर्क की कठोर तराश के बाद उसके जीवन में सिद्धान्त-सी बन जाती हैं—वह उन भावों में आकर अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण निश्चितकर उन्हें पकड़कर बैठ जाता है। युग की रफ्तार कहीं जाय वह परवा नहीं करता। जमाना

उससे प्रतिशोध लेता है—मुँह बिचकाकर उसे देखता है फिर आँखें फेर आगे बढ़ जाता है। एक ऐसा भी कलाकार होता है जो युग की दौड़ से भी आगे बढ़कर उसका रास्ता दिखलाता है। उसकी दौड़ के साथ होने के लिए युग को ही उसे लक्ष्य मानकर अपना पैर बढ़ाना पड़ता है। हमने ऊपर कहा है कि ऐसे कलाकारों के हाथ में एक जलती हुई मशाल रहती है। प्रसाद का प्रगतिशील रूप इसी उपत्यका पर खड़ा है। युग की गति से वे दूर थे अत: प्रथम तो उसने इनकी अवहेलना की— प्रसाद की प्रतिमा सामान्य कोटि की समझी गयी, कविताओं को अनर्गल बकवास ही माना गया। हमारी संस्कृति की एक अजीब विचित्रता है कि किसी साहित्यकार के जीवनकाल में हम उसे भर्त्सना ही देते हैं—बहुत सहृदयता की तो गाली नहीं दिया। हाँ, उसकी मृत्यु के पश्चात् हम उसकी ओर ऐसे दौड़ते हैं जैसे एक निधि लुट गयी हो। और तब शोक सभाएँ, संस्करण, श्रद्धाञ्जलियों एवं तारीफों का सागर उमड़ जाता है। प्रसाद की अति प्रगतिशीलता को देखकर विद्वानों ने उनकी मखौल उड़ानी शुरू की। किसी ने तो यहाँ तक कहा कि वेद की ऋचाएँ तो समझ में आती हैं पर आपकी कविताएँ नहीं। प्रसादजी इन प्रसंगों पर एक गंभीर मुस्कान के बाद यही कहते कि बीस-तीस वर्षों के बाद ये चीजें समझ में आ जाएँगी। उस तपस्वी की यह आत्मविश्वास सम्मित वाणी आज सचमुच वरदान बन गयी है—हम प्रसाद को जैसे छोड़ना ही नहीं चाहते हों। उनकी एक-एक उक्तियाँ, हमारे नस-नस में भींग गयी हैं।

हम सभी जानते हैं, साहित्य का मूल उत्स आनन्द है और उसी की उपलब्धि उसका लक्ष्य भी। कुछ साहित्यिकों के अनुसार इस आनन्द के साथ-ही-साथ उपयोगिता की भी महत्ता

क्रम स्वीकृत नहीं। साहित्य के प्रचार का साधन मानना शायद हमारी दृष्टि में इस पवित्र क्षेत्र को कलंकित करना ही है। वर्ग विशेष की बातों के प्रचार के लिए साहित्य के भोंपू द्वारा जनता का कान फाड़ना स्वार्थपरता की सीमा है। आज का साहित्य प्रचार का साहित्य बनता जा रहा है। यूरोपीय साहित्य में प्रचार के लिए पुस्तिकाओं (pamphlets) की बढ़ती संख्या से साहित्य का मधुमय रूप परोक्ष में गर्म साँस ले रहा है। वादों की आँधी ने इस क्षेत्र को और भी व्यापक बना दिया है। प्रसाद युग के अन्य साहित्यकारों में हम प्रचार की यही धूमिल छाया देखते हैं। प्रेमचंद का साहित्य उपदेश का साहित्य है। साहित्य की उपयोगिता को ध्यान में रखकर उन्होंने उपयोग की स्थूलता से अपने को बचा नहीं पाया। वे यह स्वीकार करते हैं कि 'जो चतुर कलाकार है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है।' लेकिन इस मापदंड को वे अच्छी तरह निभा नहीं पाए, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। उनकी छोटी कहानियों में तो सरासरी उपदेशक का रूप ही है और उपन्यासों के आरंभ की यथार्थ परिस्थिति के साथ उत्तरार्द्ध की अति आदर्शवादिता को देखकर वहाँ भी हमें निराशा ही होती है। प्रसाद के नाटकों में इस प्रकार के विलग-मनोभाव (detached sentiments) नहीं मिलते। आरंभ से ही साहित्य का लक्ष्य आनंद मानते हुए वे रोमान्टिक आदर्शवादिता का चित्रण प्रारंभ करते हैं जो अंत तक एक ही धरातल पर बहने वाली सरिता की तरह घुमती-मुड़ती, दौड़ती-ठहरती बढ़ती जाती है। यहाँ किसी वर्ग-विशेष का लाउड-स्पीकार नहीं है। न तो यहाँ नोटिस-बाजी है न

मंच भाषण। कलाकार सुंदरतम कला की सृष्टि करने के लिए अपनी साधना में मस्त है। प्रसाद की समस्याएँ किसी काल विशेष की न होकर विश्वव्यापी है—वे आज की हैं, कल की थीं और सदा की रहेंगी। इसीलिए संकीर्णता से वे दूर हैं वस्तुवादी (materialistic) खटपट से उनका कोई मतलब नहीं। कला की उपयोगिता का महत्व उनके सामने भी है, पर उसका मूल्याङ्कन ठीक-ठीक रुपया-आना-पाई में करना वे ठीक नहीं समझते। उनके अनुसार उपदेश का असर मस्तिष्क पर पड़ता है जिसका साहित्य से सरोकार नहीं। साहित्य तो हृदय की वस्तु है। जहाँ तर्क और ज्ञान, उपदेश और प्रचार असफल होता है वहाँ साहित्य अपनी मार्मिक चोट द्वारा हृदय को अपने वश में कर मैदान मार लेता है।

हिन्दी साहित्य को प्रसाद की देन इतने अधिक पैमाने पर है कि साहित्य का बोझिल हृदय उनके प्रति सदा प्रणत ही रहेगा। आधुनिक समस्या नाटकों मे, जहाँ व्यक्ति की समस्या सेक्स के रूप में चित्रित है, हम कला की एक गंदी शाखा देखते हैं जिसका भीतर बाहर उद्दाम शृङ्गार से चकित है। तब हमें प्रसाद की देन इतनी ऊँची दिखलायी पड़ती है जहाँ तक आधुनिक प्रगतिवादियों की तथाकथित प्रगति शायद ही पहुँच सके। संस्कृत के पौराणिक-नैतिक नाटकों की परिपाटी का सफल व्यवहार प्रसाद में ही मिलता है। इस क्षेत्र में इन्ही की देखा-देखी पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' उग्र का 'गंगा का बेटा' तथा उदयशंकर भट्ट का 'सगर-विजय' आदि नाटक लिखे गए पर उनमें न तो युग विशेष का हूबहू चित्र उपस्थित करने की ओजपूर्ण शैली है न घटनाओं का उचित समाहार ही। हिन्दी के 'गीतिनाट्य' तो उँगली पर गिनने लायक ही हैं।

प्रसाद का 'करुणालय' ही हिन्दी का सर्वप्रथम गीतिनाट्य कहा जा सकता है। आरंभिक रचना होते हुए भी यह एक हद तक सफल रचना ही कही जा सकती है। यहाँ प्रसाद के प्रसादत्व की झलक स्पष्ट है। गुप्तजी के 'अनघ' में गीतितत्व अत्यन्त क्षीण है। हाँ प्रसाद के पद-चिह्नों पर भगवती चरण वर्मा का एकांकी 'तारा' एक सफल रचना है। उदयशंकर भट्ट की प्रतीकात्मक रचना 'विश्वमित्र' भी इस क्षेत्र में काफी सफल है। प्रसाद की आत्मा अपने बाद के इन नाटककारों की कृतियों से प्रसन्न ही होती होगी।

रूपकों का इतिहास साहित्य में पुराना है। संस्कृति साहित्य में आरंभ से ही धार्मिक मतों के स्पष्टीकरण के लिए रूपकात्मक कथाओं का निर्माण हुआ। अंग्रेज़ी के Christian Parables, Pilgrims progress तथा Fairie Queen आदि रचनाएँ रूपकात्मक हैं। हिन्दी के नाट्य साहित्य में रूप-कात्मक कथानकों का श्री गणेश प्रसाद से ही होता है। 'कामना' का स्थान इस वर्ग के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ ही समझा जायगा। पंत की 'ज्योत्स्ना' इसी कोटि में आती है। पर पंत में जहाँ केवल कल्पनाओं का घटाटोप है वहाँ प्रसाद की 'कामना' में भारतीय हृदय का अंग्रेज़ी-राज्य से प्रबल विरोध का साहसिक गर्जन है। जब भारतियों के मुँह पर ताले लगे हुए थे, जब खुल्लमखुल्ला ब्रिटिश राजतंत्र की शोषण नीति के विरुद्ध आवाज उठाना महापाप समझा जाता था, तभी इस प्रगतिशील देशभक्त ने रूपकात्मक ढंग से यह बतलाया कि स्वर्णपद एवं मदिरा के करुण विलास (अंग्रेज) ताराकी संतानों (भारत-वासियों) को मद्यप एवं परस्पर अविश्वासी बनाकर अपनी सत्ता जमाना चाहता है और बाद में लोगों ने आँखें खोलकर

अपनी परिस्थिति को समझकर किस प्रकार विलास को खदेड़ा यह दिखलाकर अंग्रेजी राज्य को समूल नष्ट करने की प्रसाद ने यहाँ एक सांकेतिक प्रेरणा भी देने की चेष्टा की है।

आज एकांकी नाटकों की धूम है। जीवन की हलचल के कारण अवकाश की क्षीणता के फलस्वरूप साहित्य में भी कटशॉर्ट (cut-short) की प्रथा चली। उपन्यासों का स्थान छोटी कहानियों ने लेना आरम्भ किया, महाकाव्य मुक्तक बन गए और पाँच-छः अंकों के नाटक एक ही अंक में सिमट गए। इस क्षेत्र में भी प्रथप्रदर्शन का श्रेय प्रसादजी को ही है। 'एक घूँट' में कथानक सिमटाने की क्रांति है, अंकों के विस्तार को कम करने की आन्तरिक जागरुकता है। और आज तो एकांकी नाटकों की भरमार-सी है—इस ढेर की ढेर राशि में आदि एकांकी नाटक का महत्व कितना अधिक है यह कहा नहीं जा सकता—वह तो चिंतन का ही विषय है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण प्रसाद एक स्कूल बन गए हैं। उनके नाटकों की महत्ता इतनी है कि नाटक शब्द कहने से ही प्रसाद का व्यक्तित्व सामने आ जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वीररस का नाम लेते ही भूषण की कविताएँ झलकने लगती हैं। इस क्षेत्र में सचमुच वे ऐसी मंजिल पर हैं जिसके आगे कोई राह ही नहीं है। और वस्तुतः यदि हम यह कहें कि किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान होता है वही वर्तमान हिन्दी नाटक के क्षेत्र में प्रसादजी का है, तो कोई अत्युक्ति नहीं।

परिशिष्ट

'प्रसाद' ने जिस कथावस्तु की नींव पर 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की है, ठीक वैसी ही घटना का उल्लेख 'मुजम्मुल तवारीख़' नामक बारहवीं शताब्दी की एक फ़ारसी पुस्तक में मिलता है। उस कथानक के मुख्य पात्रों—ख्वाल और वरकमारीस—के स्थान पर यदि क्रमशः रामगुप्त और चन्द्रगुप्त का नाम रखकर पढ़ा जाय तो कहानी समुचित रूप से 'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक में ही सिमट जाती है। मुख्य कथानक सक्षेपतः नीचे लिखा जाता है।

'ख्वाल तथा वरकमारीस दो भाई थे। ख्वाल के राजत्वकाल में वरकमारीस ने स्वयंवर में एक अति सुन्दरी राजकुमारी से सम्बन्ध स्थापित किया। राजधानी में लौटने पर उस रमणी के सौन्दर्य पर मोहित होकर ख्वाल ने उससे स्वयं विवाह कर लिया। इस प्रकार विरक्त होकर वरकमारीस ने विद्याध्ययन में ही अधिकाधिक समय लगाया और कालान्तर में वह प्रसिद्ध विद्वान के रूप में देश भर में प्रतिष्ठित हुआ। ख्वाल की आन्तरिक कमजोरी को देखकर उसके पिता के एक शत्रु ने उस पर आक्रमण किया और युद्ध में उसे पराजित किया। हारने के बाद वह अपने परिवार के साथ एक पर्वत की शिखर पर बने दुर्ग में भाग गया। वहीं से ख्वाल ने शत्रु के पास संधि की प्रार्थना भेजी, जिसमें उसने अपनी पत्नी तथा सामन्तों की पुत्रियों को शत्रु को भेंट में देने का वचन दिया। जब यह बात वरकमारीस को मालूम हुई तो उसने राजा से उसकी पत्नी

तथा सामंतपुत्रियों के बजाय सामंतपुत्रों के साथ स्वयं ही स्त्री-वेश में जाने का अनुरोध किया। राजा को यह सुझाव प्रिय लगा और तदनुसार वरकमारीस और सामन्तपुत्र हथियार लेकर स्त्रीवेश में शत्रुशिविर में पहुँचे। वरकमारीस के सोचे हुए विधान के अनुसार ही शत्रुनरेश ने उसे अपने पास रख लिया और अन्य स्त्रीवेशधारी युवकों को अपने सामंतों में बाँट दिया। अवसर पाकर वरकमारीस ने उस शासक की हत्या कर दी। उसके बिगुल की आवाज़ सुनकर अन्य युवकों ने सभी शत्रु सामन्तों को मार डाला। रव्वाल की सेना ने तत्पश्चात् शत्रुसेना पर आक्रमण कर उसे मार भगाया।'

यह सन्दर्भ इलियट के 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में संगृहीत है। फ़ारसी विद्वानों ने उस पुस्तक में उद्धृत फ़ारसी-संदर्भों की जाँचकर बहुतों को अशुद्ध पाया है। इस संदर्भ विशेष के रव्वाल एवं वरकमारीस शब्दों को ठीक से देखने पर यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि वरकमारीस, विक्रमादित्य का ही अशुद्ध रूप है। और सचमुच, आधुनिक पश्तो आदि भाषा बोलने वालों से यदि 'विक्रमादित्य' कहलाया जाय तो वे इस शब्द का उच्चारण वरकमारीस जैसा ही करेंगे। रव्वाल भी रामगुप्त को ही संकेत करता है। यह भी संभव है कि मूल फ़ारसी में ये शब्द कुछ-कुछ संस्कृति ध्वनि लिए हुए हों और इलियट ने, जैसे अन्य फ़ारसी के शब्दों को अशुद्ध लिखा है वैसे ही इन दोनों शब्दों को भी अशुद्ध रूप में लिखा हो। अथवा यह भी हो सकता है कि उपरोक्त तवारीख़ की जो प्रति इलियट को मिली हो उसी में अशुद्ध उल्लेख हो। जो भी हो इस उल्लेख से 'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक की प्रामाणिकता की पुष्टि ही होती है।